वैश्विक पर्यावरण संकट एवं भारतीय संस्कृति का समाधान

सुरेन्द्र कुमार यादव

शोध छात्र
(शिक्षा शास्त्र)
नेहरु ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

मानव जनित एवं पोषित कार्यो ने विश्व के पर्यावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन किया है। आज पर्यावरण एक वैश्विक समस्या बन गई है। नैसर्गिक आनन्द की अनुभूति कराने वाली प्रकृति आज भीषण विभीषिकाओं को जन्म दे रही है। सृष्टि में बढ़ते हुए तापमान, समुद्रतल की बढ़ती ऊचाई, मरुस्थलीयकरण, पशु–पक्षियों की प्रजातियों का विलुप्त होना तथा हिमखण्डों का गलना कुछ ऐसे प्राकृतिक कारक हैं जो विश्व की स्थिरता पर ही प्रश्न चिह्न लगाते है।

मानव सभ्यता के विकास के साथ आधुनिक काल में विज्ञान के विनाशकारी, चिन्तन के स्वार्थी और शिक्षा के अर्थोन्मुख हो जाने के कारण मनुष्य ने प्रकृति को अपने अधीन बनाने और उसके अनियंत्रित दोहन की प्रक्रिया शुरु कर दिया। अंधाधुन्ध औद्योगीकरण व विकास के तेज कदमों ने सीमेंट व कंकरीट के जंगल खड़े कर दिए। वनों की कटाई से सूखा, अकाल, अतिवृष्टि, बाढ़, ओलावृष्टि, तूफान, वैश्विक, दूषित वायु व मृदाक्षरण जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो गई है। पहाड़ों पर होने वाली कटाई का परिणाम भू–स्खलन, चट्टान खिसकने और बादल फटने जैसी घटनाओं के रुप में सामने आ रहा है। औद्योगिक, क्रान्ति एवं मशीनीकरण के फलस्वरुप कल–कारखानों से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों एवं जहरीली गैसों से ओजोन परत के क्षरण एवं वैश्विक तापन की समस्या ने पर्यावरण संकट को और गहरा कर दिया है। इसके कारण हिम–क्षेत्रों का पिघलना व समुद्री जलस्तर में निरन्तर वृद्धि जारी है, जिससे प्रशान्त महासागर व हिन्द महासागर के द्वीपीय राष्ट्रों के जल मग्न होने की आशंका है। तापन के कारण अनेक वनस्पितियों व जीव–जन्तुओं के विनाश से पर्यापरणीय जैव–विविधता हो रही है।

इन भयावह स्थितियों से पर्यावरण की संरक्षा के लिए वैश्विक सहमति बनाने के उपाय निर्धारित करने हेतु स्टाकहोम (1972), मांट्रियल (1987), रियो–डि–जेनेरियो (1992), व क्योटो (1997), में सम्मेलन आयोजित किये गये। प्र्यावरण की सुरक्षा हेतु निष्कर्ष रुप में निर्वहनीय या शाश्वत विकास (Sustainable Development) की अवधारणा दी गयी। किन्तु अभी तक इस दिशा में कोई ठोस पहल नहीं हो सका है।

वास्तव में विकास की हमारी अधकचरी समझ ने हमें यहॉ ला खड़ा किया है। हमारी विकास की अवधारणा यह बताती है कि वह समाज अधिक विकसित है जो प्रकृति का अधिक इस्तेमाल या दोहन करते है। यह उपभोगवादी संस्कृति ही पर्यावरण समस्या के मूल में है।

वर्तमान विकट पर्यावरणीय संकट एवं इससे निपटने के सापेक्ष हमें मूल भारतीय संस्कृति व जीवन–पद्धति समाधान के रुप में दिखाई देती है। दुनिया भर में यह ऐसी अनूठी संस्कृति है, जिसकी मान्यता है कि 'उतना ही लो जितने की जरुरत हो'। **'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'** का आदर्श विस्मरण कर आज मनुष्य प्रकृति के दोहन में लगा हुआ है। बौद्ध वांगमय का अनुशीलन करें तो हमें मनुष्य की प्रकृति के साथ सहज व स्वाभाविक तादात्म्य दिखता है। बौद्ध धर्म 'बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त पर आधारित है। बहुजन का हित एवं सुख तभी सम्भव हो सकता है जब पर्यावरण स्वच्छ एवं सुन्दर हो। बुद्धकालीन जन का पर्यावरणीय उपादानों के साथ प्रेम, श्रद्धा, साहचर्य तथा अन्योन्याश्रय का स्वाभाविक सम्बन्ध था। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन इन उपादानों के साथ ही अंततः गुंफित दिखता है। स्वयं गौतम बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन वृक्ष, वन या उद्यान, नदी–तट व पर्वतों के साथ ही गुँथा सा दिखता है। अपने विकास के क्रम में मानव की बढ़ती भौतिकवादी महत्वाकांक्षाओं ने पर्यावरण में नकारात्मक परिवर्तन ला दिया है। बुद्ध ने इस अनावश्यक लोगों को 'तृष्णा' की संज्ञा दी है जिसका मुख्य कारण अविज्जा (अविद्या) है। इस अविज्जा के कारण ही मनुष्य में लोभ का जन्म होता है जिससे वह मानवीय प्राथमिकता से आगे बढ़कर बिना किसी भविष्य नीति के प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करता है। बुद्ध ने इसे निरर्थक एवं विनाशकारी माना है तथा इन्हें त्यागने का मार्ग बताया है। बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य जो मनुष्य के दुःखो का विश्लेषण करते हैं उनको पर्यावरण रुपी दुःख से विश्लेषण करने पर निम्न श्रृंखला प्रकट होती है।

कारणतावाद या प्रतीत्यसमुत्पाद पर्यावरण संरक्षण की आधारशिला है। बौद्ध धर्म किसी नियति या ईश्वर की इच्छा (द्वैतवाद) में विश्वास नहीं करता। घटनाएँ पूर्व नियोजित या ईश्वरेच्छा से प्रेरित नहीं है बल्कि प्रत्येक घटना कारण सापेक्ष एवं भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर घटित होती है। पर्यावरण असंतुलन न तो नियति है न हि यह दैवी इच्छा का प्रतिफल है बल्कि मनुष्य के द्वारा ही असम्यक् प्रकृति के दोहन का परिणाम है जिसकी अन्तिम परिणति प्रलय है।

1. सूखा, बाढ़, अकाल, महामारी आदि से मनुष्य दुःखी है।
2. इस दुःख का कारण पर्यावरण संतुलन का क्षरण है।
3. इस दुःख का निदान है।
4. पर्यावरण संतुलन बनाये रखना ही इस दुःख के निदान का मार्ग है।

उपरोक्त आर्य सत्य पर्यावरण चेतना को एक नवीन दृष्टि देते है जो समस्त मानवता के लिए उपादेय है। बौद्ध धर्म के कर्म सिद्धान्त (Theory of Karma) के अनुसार पेड़–पौधे व विभिन्न प्राणियों में जन्मजात भिन्नता या श्रेष्ठता नहीं होती बल्कि कर्मगत होती है। जब हम किसी भी जैव वनस्पति को नष्ट करते है या जीव जन्तुओं की हत्या करते है तो उसमें मनुष्य का भेद भाव या श्रेष्ठता का विचार निहित होता है लेकिन श्रेष्ठता या भेद भाव का अनैतिक विचार त्याग देने पर पूरे ब्रह्माण्ड में समरसता का मार्ग प्रशस्त होता है

वन तथा वृक्ष जिनका हनन विश्व में आज मुख्य चिंता का कारण है, उनके प्रति निष्ठा एवं सर्मपण का भाव व्यक्त किया गया है। बुद्ध के जन्म से महापरिनिर्वाण तक की घटनायें वनों या उनके सन्निकट ही हुयी। अतः बौद्ध धर्म में वन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। महावग्ग

जातक में वृक्षों को चेतनायुक्त मानते हुए इनके प्रति किये गये हिंसक कृत्य को टुक्कट अर्थात अप्रशस्त कृत्य से अभिहित करते हुए यह कहा गया है कि पेड़ काटने पर जीव हत्या के ही तुल्य पाप होता है। विनयपिटक में वर्णित है कि वृक्ष मनुष्य के विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते है अतः उनके प्रति मनुष्य को कृतज्ञ भाव रखना चाहिए। बुद्ध ने अपने शिष्यों को सलाह दी है कि वह प्राकृतिक संसाधनों जैसे वन इत्यादि को संरक्षित रखे। बुद्धचरित में अश्वघोष ने भी वनों की महिमा का वर्णन बड़े उद्यात शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है कि जरामरण का क्षय करने की इच्छा से ही भगवान बुद्ध ने वनों को अपने निवास स्थान के रुप में चयनित किया। अश्वघोष के अनुसार वन सामान्य स्थल नहीं अपितु दैवीय स्थल है जहां के शान्त वातावरण में मनुष्य विभिन्न व्याधियों से रहित होकर आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

स जरामरण क्षयं चिकीर्षुवनवासाय मति स्मृतौ निधाय।

बौद्ध धर्म में जीव–जन्तुओं के प्रति संवेदनशीलता पाई गई है। इसकी उत्पत्ति के मूल में ही वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित पशुबलि का विरोध सर्वप्रमुख था। बुद्ध के अहिंसा का मत मनुष्य की दैनिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं पर आधारित विषमता को रोकना था। बुद्ध ने पशुबलि के स्थान पर छः प्रकार की बलि के लिए प्रेरित किया जो मूलतः अहिंसात्मक थी। यह लोंगो को आध्यात्मिक ऊचाईयों पर ले जाती थी तथा निरर्थक पशु–बलि को रोकती थी।

बौद्ध धर्म का कारणतावाद या प्रतीत्यसमुत्पाद पर्यावरण संरक्षण की आधारशिला है। बौद्ध धर्म किसी नियति या ईश्वर की इच्छा (द्वैतवाद) में विश्वास नहीं करता। घटनाएँ पूर्व नियोजित या ईश्वरेच्छा से प्रेरित नहीं है बल्कि प्रत्येक घटना कारण सापेक्ष एवं भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर घटित होती है। पर्यावरण असंतुलन न तो नियति है न हि यह दैवी इच्छा का प्रतिफल है बल्कि मनुष्य के द्वारा ही असम्यक् प्रकृति के दोहन का परिणाम है जिसकी अन्तिम परिणति प्रलय है। यह असन्तुलन मानव सापेक्ष कारणों से व्युत्पन्न है।

बौद्ध धर्म मध्यम मार्गी है वह यह नहीं कहता कि सारे विकास ठप कर दिये जायें बल्कि उसका कथन है कि उनका समुचित नियन्त्रण हो ताकि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए सहायक हो तथा किसी के प्रति हिंसा का भाव न हो। सिंगालोवादसूत में यह प्रतिपादित है कि मनुष्य को मधुमक्खियों की तरह प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करना चाहिए। मधुमक्खी मधु हेतु पुष्प के रस को ग्रहण करती है, परन्तु उससे पुष्प को कोई हानि नहीं पहुँचती हैं अतः बुद्ध का विचार प्रकृति के तत्व का सूझ–बूझ के साथ दोहन था न कि असोचनीय विनाश। उनके उपदेश मनुष्य एवं प्रकृति दोंनो के मध्य स्थायी व प्रगतिशील बन्धन का सूचक है। इस प्रकार बुद्ध एवं बौद्ध धर्म दोनों प्रकृति के प्रति सचेत भाव रखते है। यह मानव उन्मुख न होकर प्रकृति के मध्य मृदु संबंधों पर आधारित है यहां मनुष्य का प्रगति एवं भौतिक उन्नति पर पूर्ण अधिकार है परन्तु अन्धानुकरण की नीति पर आधारित सृष्टि के दोहन पर प्रतिबन्ध है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. ईशावास्योपनिषद् 1/1

2. आनन्द सिंह, इकोलाजिकल कान्सशनेस इन बुद्धिस्थीज्म एण्ड देयर रोल इन रिकवरी ऑफ ग्लोबल इकोंलाजिकल, क्रइसिस, ग्लोबल रिकवरी द बुद्धिस्ट पर्सपेक्टिव, बैंकाक, 2010 पृष्ठ 3–14
3. डॉ0 ए0 के0 पाण्डेय, भारतीय दर्शन में पर्यावरण चेतना, पृष्ठ–28
4. डॉ0 ए0 के0 पाण्डेय, भारतीय दर्शन में पर्यावरण, चेतना, पृष्ठ–30
5. महावग्गजातक, पृष्ठ 07/5
6. विनयपिटक 4, 34
7. मझिझमनिकाय, 1, 118, संयुक्त निकाय 4, 373
8. बुद्धचरित्रम् 5/23
9. सिगलोवादसूत, दीघनिकाय, 111, 188

सल्तनतकालीन केन्द्रीय शासन

डॉ0 शशिबाला

अतिथि–प्रवक्ता,
चौधरी महादेव प्रसाद महाविद्यालय,
इलाहाबाद

1–**सुल्तान–**

केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान था। दिल्ली सल्तनत के युग में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था, जैसा कि हम मुगलकाल में पाते हैं जिसमें उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों का ही सिंहासन पर अधिकार हो सकता था। परन्तु फिर भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी, जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री को सिंहासन प्राप्ति का अधिकार था। सुल्तान को अपने बच्चों में से किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, वयस्क हो अथवा अल्पायु। इस आधार पर रजिया सुल्तान, शिहाबुद्दीन खिलजी और तुगलक शाह को सिंहासन प्राप्त हुआ। इसमें स्त्रियों और अल्पायु शहजादों के सिंहासन पर बैठने और शासन करने के प्रयोग असफल हुए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाए जब उत्तराधिकारी योग्य हो। अयोग्य उत्तराधिकारी होने की स्थिति से सरदारों ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया। सुल्तान इल्तुतमिश, रजिया के सभी भाई, कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी और फीरोज तुगलक सरदारों की सम्मति से चुने गये सुल्तान थे। इसके अतिरिक्त तलवार की शक्ति भी सिंहासन के अधिकार को निश्चित करती थी अलाउद्दीन खिलजी, खिज्र खाँ और बहलोल लोदी ऐसे ही शासक थे।

दिल्ली सुल्तानों ने अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय करने में प्रधान था। राज्य की सेना का सर्वोच्च सेनापति भी वही था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी। सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करने, उन्हें हटाने, उपाधियों का वितरण करने आदि अधिकार उसी के थे। अधिकारों का वास्तविक प्रयोग उसकी सैनिक शक्ति पर निर्भर करता था। सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति में सरदारों का शासन में प्रभाव बढ़ जाता था। उलेमा वर्ग का प्रभाव भी शासन में था। केवल अलाउद्दीन खिलजी, मुबारकशाह खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक ही उसके प्रभाव से मुक्त रह सके थे। शासन–व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का महत्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।

2– मन्त्री व अन्य अधिकारी

शासन में सुल्तान की सहायता के लिये विभिन्न मंत्री और अन्य अधिकारी होते थे जो शासन कार्य में सुल्तान की मदद करते थे।

नाइब (नाइब–ए–मामलिकात)–

इस पद को रजिया के पश्चात् बहराम शाह के समय में प्रारम्भ किया गया था। बहराम शाह के सरदारों ने शासन शक्ति को अपने हाथों में रखने के लिये अपने में से हर एक को नाइब का पद बांटा। इस कारण दुर्बल सुल्तानों के समय में ही इस पद का महत्व रहा। नाइब का पद सुल्तान के बाद माना जाता था और इसे राजा के वजीर से श्रेष्ठ समझा जाता था। शक्तिशाली शासकों ने या तो इस पद को रखा ही नहीं या फिर अलाउद्दीन जैसे शासकों ने अपने किसी सरदार को सम्मान देने के लिये यह पद उसे प्रदान किया।

मोहम्मद तुगलक ने दीवाने–अमीर–कोही (कृषि विभाग के प्रधान) की नियुक्ति की थी। इसके अतिरिक्त सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमें से 'वकील–ए–दरमहल' शाही कर्मचारी की देखभाल करता था 'बारबक' दरबार की शान–शौकत और रास्तों की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–हाजिब' सुल्तान से मिलने वालों की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–शिकार' शाही शिकार का प्रबन्ध करता था, 'अमीर–ए–मजलिस' शाही उत्सवों और दावतों का प्रबन्ध करता था, 'सर–ए–जहांदार' सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान होता था।ये पद मन्त्रियों के पद के समान तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान और आराम से सम्बन्धित था।

वजीर–

राज्य का प्रधानमंत्री वजीर कहलाता था। वजीर मुख्यतः राजस्व विभाग (दीवान–ए–वजारत) का प्रधान होता था। इस दृष्टि से वह लगान कर व्यवस्था, दान, सैनिक व्यय, आदि सभी की देखभाल करता था। यदि राज्य में नाइब का पद नहीं होता था तो वजीर ही सुल्तान के बाद राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शासन पर दृष्टि रखना, सुल्तान की बीमारी अथवा राजधानी से अनुपस्थित होने पर नियुक्ति करना आदि अधिकार उसे प्राप्त थे। वजीर की सहायता के लिये अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त नाइब–वजीर, मुंसिफ–ए–मुमालिक का कार्य प्रान्तों व अन्य विभागों के प्राप्त हिसाब का लेखा जोखा रखना था। और मुस्तौफी–ए–मुमालिक इस हिसाब की जांच करता था।

दीवान–ए–वजारत

यह एक बड़ा विभाग था और उसका एक बड़ा सचिवालय था जिसके अन्तर्गत हजारों छोटे–बड़े अधिकारी और साधारण कर्मचारी कार्य करते थे।[1]

अरीज–ए–मुमालिक

यह सेना विभाग (दीवान–ए–अर्ज) का प्रधान था। वह सैनिकों की भर्ती, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोड़ों को दागने व सैनिकों की हुलिया लिखे जाने की व्यवस्था करता था। वह राज्य का स्थायी सेनापति नहीं था और सुल्तान समय–समय पर विभिन्न युद्धों के लिये अलग–अलग सेनापति की नियुक्ति करता था।

दबीर–ए–खास (अमीर–मुंशी)

यह शाही पत्र–व्यवहार विभाग (दीवान–ए–इंसा) का प्रधान था। सुल्तान के आदेशों को राज्य के विभिन्न भागों में भेजना और सुल्तान की सभी प्रकार की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना उसे भेजना आदि उसी का कार्य था, उसकी सहायता के लिये अनेक दबीर (लेखक) होते थे।

दीवाने–रसालत

यह सुल्तानों की विदेश वार्ता और कूटनीतिक सम्बन्धों की देखभाल करता था। विदेशी पत्र व्यवहार और राजदूतों का आदान–प्रदान तथा उनकी देखभाल उसका उत्तरदायित्व था।

सद्र–उस–सुदूर

यह धर्म विभाग का प्रधान था। इस्लाम धर्म के कानूनों का प्रजा में प्रसार करना उनका पालन कराना और मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करना उसका उत्तरदायित्व था। 'जकात' नामक कर से वसूल किये गये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरें उसकी सलाह पर दी जाती थी। मस्जिदों, मकतबों और मदरसों को आर्थिक सहायता भी वही देता था। शाही–खैरात (दान) की व्यवस्था भी वही करता था।

काजी–उल–कजात

यह न्याय विभाग का प्रधान था। यद्यपि उसके न्यायालय से बड़ा न्यायालय सुल्तान का था[2] किन्तु राज्य का प्रमुख काजी होने के नाते मुकदमें उसकी अदालत में आरम्भ किये जाते थे और निम्न काजियों के निर्णय पर भी विचार कर सकता था।[3] अधिकांशतः काजी–उल–कजात और 'सद्र उस सुदूर' के पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे।

वरीद–ए मुमालिक

जिन सुल्तानों ने गुप्तचर विभाग का संगठन किया था उसका यह प्रधान होता था। विभिन्न गुप्तचर, संदेशवाहक और डाक चौकियाँ उसके अधीन होती थीं।

समय समय पर सुल्तान अपनी इच्छा से अन्य विभागों और उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करते थे, जैसे मोहम्मद तुगलक ने दीवाने–अमीर–कोही (कृषि विभाग के प्रधान) की नियुक्ति की थी। इसके अतिरिक्त सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमें से 'वकील–ए–दरमहल' शाही कर्मचारी की देखभाल करता था 'बारबक' दरबार की शान–शौकत और रास्तों की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–हाजिब' सुल्तान से मिलने वालों की देखभाल करता था। 'अमीर–ए–शिकार' शाही शिकार का प्रबन्ध करता था, 'अमीर–ए–मजलिस' शाही उत्सवों और दावतों का प्रबन्ध करता था, 'सर–ए–जहांदार' सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान होता था।

ये पद मन्त्रियों के पद के समान तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान और आराम से सम्बन्धित था। इस कारण इन पदों पर अत्यधिक विश्वासपात्र व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी और कभी–कभी इनमें से कोई पदाधिकारी सुल्तान के व्यक्तिगत सम्पर्क में होने के कारण मन्त्रियों से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता था।

इक्ताओं (प्रान्तों) का शासन

शासन की सुविधा और परिस्थितयों की आवश्यकता के अनुसार राज्य को छोटी इकाइयों में बांटा गया था। उस समय प्रान्तों को साधारणतः इक्ता के नाम से पुकारते थे। उस युग में 'इक्ताओं' की न तो संख्या निश्चित की जा सकी थी और न तो संख्या प्रबन्ध समान हो सका था। बड़े 'इक्ताओं' के प्रधान को मुक्ती, नाजिम, नाइब सुल्तान अथवा वली के नाम से पुकारा जाता था। अलाउद्दीन के समय में ये इक्ता दो प्रकार के हो गये। प्रथम वे 'इक्ता' थे जो पहले से ही दिल्ली–सल्तनत के अधीन चले आ रहे थे और द्वितीय वे इक्ता थे जिनको जीतकर उसी समय में दिल्ली सल्तनत के अधीन किया गया था। दूसरे प्रकार के इक्ताओं में 'मुक्ती' अथवा 'वली' को कुछ अधिक सैनिक अधिकार थे जिससे वह अपने 'इक्ताओं' को दिल्ली सल्तनत के पूर्ण प्रभाव में ले सके। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं (दक्षिण–भारत) के वे राज्य थे जिन्होने सुल्तान की अधीनता स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना आरम्भ किया था यद्यपि अपने आन्तरिक शासन में वे स्वतंत्र थे। अपने–अपने इक्ताओं में मुक्ती अथवा वली को वे समस्त अधिकार प्राप्त थे जो सुल्तान को केन्द्र पर प्राप्त थे और उसी प्रकार शासन का उत्तरदायित्व भी उन पर था। वह प्रत्येक वर्ष अपनी आय और व्यय की सूचना सुल्तान को देते थे और बचे हुए धन को केन्द्रीय खजाने में जमा कराते थे। सुल्तान की आज्ञा के बिना वो कोई कार्य नहीं कर सकते थे। इनके सभी कार्य केन्द्र के अधिकार के अन्तर्गत होते थे।

तेरहवीं सदी तक इक्ता से छोटी कोई इकाई न थी, परन्तु उसके पश्चात् 'इक्ताओं को 'शिको' में विभाजित किया गया, जहां का प्रमुख अधिकारी 'शिकदार' होता था। जो एक सैनिक अधिकारी होता था। 'शिको' को 'परगनों में विभाजित किया गया, जहां एक 'आमिल' एक 'मुशरिफ' (उसे अमीन या मुंसिफ कहते थे) एक खजांची और दो क्लर्क मुख्य अधिकारी होते थे। 'आमिल' परगने का मुख्य अधिकारी था। 'मुशरिफ' लगान निश्चित करने वाला अधिकारी था। परगना शासन की एक महत्वपूर्ण इकाई समझा जाता था। क्योंकि वहां राज्य का सीधा सम्पर्क किसानों से था। शासन की सबसे छोटी इकाई गांव थे, जो स्वशासन और पैतृक अधिकारियों की व्यवस्था के अन्तर्गत थे गावों के चौकीदार, पटवारी, चौधरी, खूत, 'मुकदम' आदि पैतृक अधिकारी थे जो शासन को लगान वसूल करने में सहायता देते थे जिन्हें अलाउद्दीन के समय के अतिरिक्त सम्पूर्ण सल्तनत काल में कुछ विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं।

इक्ता–व्यवस्था

दिल्ली सुल्तानों की इक्ता व्यवस्था उनके शासन की मुख्य विशेषता रही है। भारत में प्रचलित सामन्ती प्रथा को नष्ट करने और साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों को केन्द्र से जोड़ने के लिये एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में 'इक्ता प्रणाली' का प्रयोग किया गया। उसका प्रारम्भ सुल्तान इल्तुतमिश के शासन काल में हुआ। सुल्तान ने अपने दूरस्थ प्रदेशों में जिन बड़े सैनिक अधिकरियों की नियुक्ति की थी, उनको वेतन देने की प्रथा में यह व्यवस्था आरम्भ हुई। इन सैनिक अधिकारियों को एक निश्चित–भूमि इक्ता प्रदान किया गया, जिससे होने वाली वार्षिकी से ये अपना वेतन प्राप्त करते थे। छोटे भूमि क्षेत्र के अधिकारियों को इक्तादार कहा जाता था और सूबा स्तर के अधिकारी, कोवली, मुक्ता, मलिक या अमीर पुकारा जाता था। इन्हें प्रशासकीय व अन्य अधिकार भी प्रदान किये गये जबकि छोटे इक्तादारों को ये अधिकार नहीं प्राप्त थे।

अलाउद्दीन खिलजी के समय में दीवान–ए–वजारत ने इक्ताओं की आय पर नियंत्रण रखा। गियासुद्दीन तुगलक ने इस सम्बन्ध में एक संशोधन किया प्रत्येक इक्तादार को सैनिक रखने को बाध्य किया जाय तथा वेतन स्वयं इक्ता की आय से वहन किया जाय। इक्ता का पद पैतृक नहीं था ये सुल्तान के ऐसे सैनिक अधिकारी थे, जो अपने–अपने इक्ता में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करते थे। इसके लिये दो अधिकारी थे, इसके लिये दो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। जिनको 'अमीर' और 'वली–उल–खराज' कहा जाता था। इनका स्थानान्तरण भी होता था। यदि सुल्तान शक्तिशाली होता था तो 'इक्ता' उसकी शक्ति का आधार बन जाते थे और दुर्बल होने पर यही सम्राज्य के विघटन और राजसत्ता के परिवर्तन का कारण बन जाते थे।

इस प्रकार दिल्ली के सुल्तानों की यह इक्तादारी व्यवस्था, राजपूत शासकों की सामन्ती प्रथा से भिन्न थी। मूलतया अपने बड़े सैनिक अधिकारियों को वेतन देने के लिये भू–क्षेत्र प्रदान कर देने से इसका प्रारम्भ हुआ। बाद में यह दूरस्थ प्रदेशों को प्रशासकीय रूप में केन्द्र से बांधे रखने में सहायक सिद्ध हुई। केन्द्र की आय में वृद्धि करने में, जिससे उसकी सैनिक शक्ति में वृद्धि सम्भव हुई, और दिल्ली सल्तनत का विस्तार हो सका।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1– एवं बुद्धिप्रकर्षेण व्यवहारविमर्शतः।
अमात्यपर्षदो–हर्षश्चित्तोत्कर्षमजीजनत।। जोनराजकृत राजरंगिणी(958)
2– जोनराजकृत राजरंगिणी(143)
3– प्राडविवाकः क्षमाबुद्धिर्युक्त दण्डत्वरंजकः।
राज्ञोऽक्हत्प्रजाभारं गणनापतिगौरकः।। जोरराजकृत राजतरंगिणी।(959)

निराला : आत्महन्ता आस्था और दूधनाथ सिंह

राम चन्द्र पाण्डेय

शोध छात्र
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कवि–कथाकार और आलोचकीय प्रतिभा को अपने व्यक्तित्व में समोये दूधनाथ सिंह एक संवेदनशील, बौद्धिक, सजगता सम्पन्न दृष्टि रखने वाले शीर्षस्थ समकालीन आलोचक हैं। आपके अध्ययन–विश्लेषण का दायरा व्यापक और विस्तीर्ण है। निराला साहित्य के व्यक्तित्व के विविध पक्षों और उनकी रचनात्मकता के सघन अनुभव क्षणों का गहरा समीक्षात्मक विश्लेषण आपने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''निराला : आत्महन्ता आस्था'' (1972) में किया है।

दूधनाथ सिंह जी सर्वप्रथम पुस्तक के शीर्षक की सार्थकता को विवेचित करते हुए लिखते हैं कि कला और रचना के प्रति एकान्त समर्पण और गहरी निष्ठा रखने वाला रचनाकार बाहरी दुनिया से बेखबर ''घनी–सुनहली अयालों वाला एक सिंह होता है, जिसकी जीभ पर उसके स्वयं के भीतर निहित रचनात्मकता का खून लगा होता है। अपनी सिंहवृत्ति के कारण वह कभी भी इस खून का स्वाद नहीं भूलता और हर वक्त शिकार की ताक में सजग रहता है– चारों ओर से अपनी नजरें समेटे, एकाग्रचित्त, आत्ममुख, एकाकी और कोलाहलपूर्ण शान्ति में जूझने और झपटने को तैयार।..... इस तरह यह एकान्त–समर्पण एक प्रकार का आत्मभोज होता है : कला–रचना के प्रति यह अनन्त आस्था एक प्रकार के आत्म–हनन का पर्याय होती है, जिससे किसी मौलिक रचनाकार की मुक्ति नहीं है। जो जितना ही अपने को खाता जाता है– बाहर उतना ही रचता जाता है। लेकिन दुनियाबी तौर पर वह धीरे–धीरे विनष्ट समाप्त, तिरोहित तो होता ही चलता चलता है। महान और मौलिक सर्जना के लिए यह आत्मबलि शायद अनिवार्य है।''

अपनी रचनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में यह सिंहवृत्ति (अथवा सिंह बिम्ब) सभी कवियों के लिए जरूरी हो, सभी इस प्रक्रिया से गुजरे हों ऐसा तो नहीं कहा जा सकता लेकिन निराला के संदर्भ में, उनकी रचनात्मकता में यह (सिंहवृत्ति) सदैव सक्रिय रही है स्वयं उनकी पंक्तियों में– 'जनता के हृदय जिया/जीवन–विष विषम पिया', धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध/धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध।' और यही कारण है कि उनके जीवन में व्याप्त विषमताएँ, दुख–दर्द, अन्तस्ताप उनकी काव्य की रचनात्मकता की शक्ति बनता गया।

दूधनाथ सिंह जी की स्पष्ट मान्यता है कि छायावादी कवियों में निराला ही एक मात्र ऐसे कवि हैं जिनका जीवन, कृतित्व तत्कालीन भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों से एकदम साम्य स्थापित करता चलता है। और यही कारण है कि उनके काव्य और

व्यक्तित्व का अध्ययन अनुशीलन तत्कालीन भारतीय स्वाधीनता संघर्ष की गाथा का अनुशीलन प्रतीत होता है। दूधनाथ सिंह के शब्दों में– ''अपने युग के प्रमुख कवियों में निराला ही ऐसे कवि हैं जिनके निजी जीवन और तत्कालीन भारतीय स्थितियों के बीच घहराता हुआ संघात कभी भी बन्द नहीं हुआ है।''[1]

निराला की रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण के उपक्रम में दूधनाथ सिंह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि उनकी रचना प्रक्रिया या रचनाओं को कालक्रम के आधार पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ही काल में वे परस्पर भिन्न–भिन्न भावबोध एवं विचारबोध से परिचालित रचनाएँ रचते चलते हैं। इसलिए उनकी रचनाओं का कालक्रम आधारित विश्लेषण सर्वथा गलत निष्कर्षों की ओर ले जायेगा। उनके शब्दों में– ''निराला का काव्य व्यक्तित्व इतना विराट, गहन, गंभीर और कुछ ऐसा सीमाहीन लगता है, जिसके अन्दर बाहरी विचार और सिद्धान्त और अध्ययन रेखाएँ तिरोहित हो जाती हैं और फिर जो कुछ भी रचकर बाहर आता है, वह सिर्फ निराला होते हैं।

सामयिकता उनके व्यक्तित्व में घुलकर एक निजी और मौलिक रूप धारण करती है। रचना प्रक्रिया के ये कई–कई आवर्त लगातार हर समय उनके काव्य–व्यक्तित्व को आन्दोलित करते रहते हैं और अनेक रंगों, ध्वनियों और अर्थों से भरी अनेक छवियों वाली कविताएँ लगातार वे रचते चलते हैं। कालक्रम के आधार पर एक ही समय के आस–पास रची गयी भिन्न–भिन्न ढंग की इन कविताओं में कोई तारतम्य और संगति बिठाना विचित्र लगता है।''[2]

कला और रचना के प्रति एकान्त समर्पण और गहरी निष्ठा रखने वाला रचनाकार बाहरी दुनिया से बेखबर ''घनी–सुनहली अयालों वाला एक सिंह होता है, जिसकी जीभ पर उसके स्वयं के भीतर निहित रचनात्मकता का खून लगा होता है। अपनी सिंहवृत्ति के कारण वह कभी भी इस खून का स्वाद नहीं भूलता और हर वक्त शिकार की ताक में सजग रहता है– चारों ओर से अपनी नजरें समेटे, एकाग्रचित्त, आत्ममुख, एकाकी और कोलाहलपूर्ण शान्ति में जूझने और झपटने को तैयार।

अर्थों, रंगों और ध्वनियों के अनेक आवर्तों को अपने में संजोने वाली निराला की कविताएँ हिन्दी साहित्य की अपनी विशेष उपलब्धि रही हैं। एक ही प्रवृत्ति की श्रेष्ठतम निष्पत्तियाँ प्रायः किसी कवि की एक ऐसी विशेषता होती है जो उसे अन्य कवियों से पृथक् करती है लेकिन निराला की मौलिकता और प्रसिद्धि का एक प्रमुख कारण यह भी रहा है कि वे एक साथ कई प्रवृत्तियों, कई वैशिष्ट्यों से समन्वित विविध भावों वाली श्रेष्ठ और लोकप्रिय कविताओं के प्रणेता रहे हैं। उनकी इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए दूधनाथ सिंह जी लिखते हैं– ''संसार की किसी भी भाषा में ऐसे कवि बहुत कम होंगे, जो रचना के अनेक रूपों को साथ–साथ वहन कर सकें और लगातार अनेक मुखी अर्थों वाली कविताएँ रचने में समर्थ हों। इसका प्रमुख कारण यही था कि निराला ने जीवन को एक ही साथ अनेक स्तरों पर जिया। शायद जीवन और काव्य–रचना में एक ही साथ संघर्ष और संघात के इतने सारे फ्रण्ट खोलने, लगातार लड़ते रहने और रचते रहने की मानसिक और शारीरिक थकान को समझने के बाद ही उनके मानसिक असन्तुलन को समझा जा सकता है और तब यह कोई ऐसी अजूबा

स्थिति नहीं लगती क्योंकि शरीर और मस्तिष्क की एक सीमा तो होती ही है और निराला ने असीम शारीरिक और मानसिक क्षमता के साथ इस सीमा का, चाहे जाने या अनजाने, लगातार उल्लंघन किया। ऐसा न करना एक तरह की मानसिक समझौतापरस्ती को प्रश्रय देना था जो निराला जैसे गहन संवेदनशील, अहंकारी, उदात्त, अव्यावहारिक, भावुक और निपट मानवीय व्यक्ति के लिए असम्भव था।''[3] निराला साहित्य में एक साथ गतिमान नाना रूपात्मक अभिव्यक्तियों वाली कविताओं के साक्षात्कारकर्ता आलोचक दूधनाथ सिंह जी निराला की कविताओं को उनके निजत्व की, उनके व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। रचित साहित्य और रचनाकार के व्यक्तित्व दोनों को आपस में सम्पृक्त कर उनका विश्लेषण किया है। विश्लेषण तब और भी अधिक दिलचस्प हो जाता है जब वे 'निजत्व की समीपतम पहचान की अभिव्यक्ति' को निराला की काव्य–रचना का केन्द्रीय भाव घोषित करते हैं। वे लिखते हैं– ''निराला की रचनात्मकता का श्रेष्ठ प्रतिफलन (गद्य और कविता–दोनों ही क्षेत्रों में) अपने निजत्व की समीपतम पहचान की अभिव्यक्ति में हुआ है। यह एक प्रकार का सघनतम आत्म–साक्षात्कार है– कविता या रचना को अपने निजी जीवन–बिम्ब में घुला देने का सफल प्रयास। उनकी काव्य–रचना का अधिकांश भाग इसी आत्म–साक्षात्कार अथवा निजत्व की समीपतम पहचान का परिणाम है। अपने जीवन–बिम्ब और काव्य–बिम्ब को एकमेक कर देने के कारण ही उनके काव्य में वह गहराई आ सकी है, जो धीरे–धीरे पर्त–दर–पर्त खुलती है और अपनी गरिमा, पवित्रता और भावोच्छलता से पाठक को आह्लादित करती हुई, उसके मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। उच्छल पावनता, आत्मसमर्पण, सुख, आत्मतोष, गरिमामयता, अवसाद खिन्नता और जर्जरपन से होकर तिरोहित होते हुए, शरणागति की पावनतम इच्छा–यह सब कुछ निजत्व की इसी समीपतम पहचान का प्रतिफल है।''[4] यह सच है कि निराला की कविताओं में उनके आत्मसाक्षात्कार की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है, 'काव्य–बिम्ब' में 'जीवन–बिम्ब' का एक क्षीण आभास भी झलकता रहता है लेकिन उनके काव्य को सिर्फ उनके जीवन–बिम्ब की प्रतिच्छाया मान लेने से गलत निष्कर्ष निकलने की पूरी संभावना भी आकार ग्रहण करने लगती है। जैसा कि दूधनाथ सिंह द्वारा निराला की रचनाओं के विश्लेषण में दृष्टिगोचर है। निराला के 'काव्य–बिम्ब' और 'जीवन–बिम्ब' को परस्पर एकमेक कर विश्लेषित करने से उनकी कविताओं के राष्ट्रीय महत्त्व का तिरोहित होना स्वाभाविक है। किसी कविता की रचनात्मकता के परीक्षण का एक मानदण्ड यह भी हुआ करता है कि वह कितना व्यक्तिगत जीवन का निषेध कर सामूहिक या सामाजिक जीवन की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देती है, राष्ट्रीय समस्याओं का दिग्दर्शन और उनका समाधान किन–किन रूपों में प्रस्तुत करती है। रचनाकार के व्यक्तिगत जीवनानुभवों में जितना अधिक सामाजिक जीवनानुभवों का प्रामाणिक चित्रण होगा उतना ही वह रचना दीर्घजीवी एवं सम्प्रेषणीय होगी। कोई भी श्रेष्ठ रचना अपने युगजीवन के अनुभवों से विहीन होकर श्रेष्ठ या महान हो ही नहीं सकती। निराला का काव्य–बिम्ब वस्तुतः सामाजिक जीवन–बिम्ब या राष्ट्रीय जीवन–बिम्ब की चेतना से परस्पर अनुस्यूत है। निराला की कविताओं में आत्मसाक्षात्कार का दिग्दर्शन गलत नहीं, बल्कि उन्हें आत्मसाक्षात्कार का प्रतिफलन मान लेना गलत है। दूधनाथ सिंह जी उनकी कविताओं में निहित राष्ट्रीय स्वरों की अनुगूँज को न सुन सकें हों ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन वे इसकी

काफी क्षीण या दूरवर्ती झंकार ही सुन सके। 'राम की शक्तिपूजा' के विश्लेषण क्रम में वे लिखते हैं– ''कहीं कहीं इस कविता में राम के माध्यम से निराला की राष्ट्रीय गुलामी से मुक्ति की चिन्ता झलक मारती है। इस नये अर्थ की प्रतिष्ठा की ओर कुछ लोगों ने संकेत भी किया है। इसकी कुछ क्षीण और दूरवर्ती झंकार कविता में विद्यमान है। यद्यपि इस अर्थ को पूरी कविता में बहुत सावधानी से पिरोया नहीं गया है।''[5] यहाँ इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का महज यह उद्देश्य है कि वे निराला की कविताओं में राष्ट्रीय स्वरों की अनुगूँज क्षीण स्तर पर सुनते हैं और आत्मसाक्षात्कार के अंश को ज्यादा वृहत्तर स्तर पर। यह अलग बात है कि यह दूधनाथ सिंह जी ने पूरे क्रम को ठीक उलट दिया है क्योंकि निराला के काव्य में आत्मसाक्षात्कार के स्वरों की अनुगूँज क्षीण है जबकि उसके राष्ट्रीय संदर्भों के स्वरों की अनुगूँज काफी प्रशस्त है। स्वयं दूधनाथ सिंह जी भी इस बात से भली भाँति वाकिफ हैं। उनके शब्दों में– 'अपने युग के प्रमुख कवियों में निराला ही ऐसे कवि हैं, जिनके निजी जीवन और तत्कालीन भारतीय स्थितियों के बीच घहराता हुआ संघात कभी भी बन्द नहीं हुआ है।''[6] दूधनाथ सिंह जी निराला के अध्ययन–विश्लेषण को कुछ मुख्य अध्यायों में विभाजित करते हैं वे निम्न हैं– 'सही अध्ययन दृष्टिः स्थापना', 'अन्तःसंगीत', 'लम्बी कथात्मक कविताएँ', 'राष्ट्रीय उद्‌बोधन', 'काव्य–आभिजात्य से मुक्ति का प्रयास', 'ऋतुप्रार्थनाएँ', 'प्रपत्तिभाव'। अध्ययन के शीर्षक चाहे जो कुछ हो लेकिन उनके विश्लेषण में, बल्कि समग्र विश्लेषण में प्रायः एक ही प्रधान स्वर की अनुगूँज सुनाई देती है। वह है– ''उनका काव्य ही उनका जीवन–बिम्ब है और उनका जीवन–बिम्ब ही उनका काव्य बिम्ब।'' यही उनके समस्त विश्लेषण का आधारवाक्य है। अपनी इसी मान्यता के चलते ही वे निराला की कविताओं में आत्मसाक्षात्कार को इतनी अधिक प्रधानता देते हैं। उनकी सामान्य कविताओं से लेकर लम्बी कथात्मक कविताओं तक में वे प्रधानतया इसी आत्मसाक्षात्कार का साक्षात्कार करते हैं। वे लिखते हैं– ''निराला की रचनात्मकता का श्रेष्ठ प्रतिफलन अपने निजत्व की समीपतम पहचान की अभिव्यक्ति के रूप में हुआ है। यह एक प्रकार का सघनतम आत्मसाक्षात्कार है– कविता या रचना को अपने निजी जीवन–बिम्ब में घुला देने का सफल प्रयास। इस रूप में निराला हमारे निजी क्षणों के निजी (प्राइवेट) कवि बन जाते हैं, जिनकी अभिव्यक्तियों पर हम सुख–दुख के घने क्षणों में भरोसा कर सकते हैं। किसी भी कवि की यह श्रेष्ठतम उपलब्धि और अन्तिम सफलता कही जा सकती है। निजत्व की यह समीपतम पहचान अपने श्रेष्ठतम रूप में उनके गीतों में अभिव्यक्त हुई है.....आत्मसाक्षात्कार का तिरोभाव उनकी कविताओं में कहीं नहीं हुआ।.....उनकी लम्बी कथात्मक कविताओं में भी उनका आत्मसाक्षात्कार या निजत्व की समीपतम पहचान ही अभिव्यक्त हुई है। राष्ट्रीय उद्‌बोधन की कविताओं में भी उनकी उच्छल राष्ट्रभक्ति ही व्यक्त हुई है और काव्य आभिजात्य से मुक्ति के प्रयास में लिखी गयी कविताएँ भी इस विशेषता से रहित नहीं हैं। इस तरह निजत्व की समीपतम पहचान की अभिव्यक्ति ही निराला की काव्य–रचना का वह केन्द्रीय भाव है, जिसके इर्द–गिर्द वे जीवन–भर चक्कर काटते हुए दिखाई देते हैं।''[7] वस्तुतः निराला का व्यक्तित्व और उनकी रचनात्मकता में इतना गहरा साम्य है कि पाठक या आलोचक चलता है तो निराला की कृति का आस्वादन करने लेकिन न जाने कब वह निराला के व्यक्तित्व का ही अध्ययन करने लगता है उसे इसका आभास भी नहीं होता। बड़े–बड़े आलोचक भी उनके व्यक्तित्व और रचनाशीलता के

अलग–अलग विश्लेषण में सफल नहीं हो पाते और तब ऐसा ही निष्कर्ष निकलना स्वाभाविक है कि उनका काव्य–बिम्ब ही उनका जीवन–बिम्ब है और उनका जीवन–बिम्ब ही काव्य–बिम्ब।' आवश्यकता तो होती है उनके जीवन बिम्ब और काव्य–बिम्ब के अलग–अलग विश्लेषण की लेकिन यह उतना आसान नहीं है।

अब हम दूधनाथ सिंह द्वारा विश्लेषित लम्बी कविताओं (जिनमें 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज–स्मृति', 'तुलसीदास' इत्यादि कविताएँ प्रमुख हैं) के उन अंशों का साक्षात्कार करते हैं जिनमें दूधनाथ सिंह की उपर्युक्त मान्यता आकार ग्रहण करती हैं और वे बड़ी ही मजबूती के साथ निराला की कविताओं को आत्मसाक्षात्कार की कविता घोषित करते हैं। राम की शक्तिपूजा के विश्लेषण क्रम में दूधनाथ सिंह जी लिखते हैं– ''.....निराला की इन लम्बी कविताओं में भी आत्मसाक्षात्कार ही प्रमुख है। ये कविताएँ भी मुख्यतः आत्मचरितात्मक ही हैं। 'राम की शक्तिपूजा' के साथ भी यही बात है। राष्ट्रीय मुक्ति के ऐतिहासिक समसामयिक अर्थ की प्रतिष्ठा से भी अधिक सघन और महत्त्वपूर्ण अर्थ राम के चरित्र के माध्यम से कवि की अपनी ही अखण्ड रचनात्मक विजय की पहचान है। यही आत्मसाक्षात्कार का संघटित अर्थ इस कविता को सर्वथा एक नये और अनछुए धरातल पर ला खड़ा करता है। .....इस अर्थ का संगुम्फन इतना सूक्ष्म है कि उसे आसानी से पकड़ना मुश्किल है। लेकिन एक बार इस प्रतीकार्थ को क्रमवार ध्यान में रखकर इस कविता को पढ़ें तो धीरे–धीरे यह अर्थ–रस टपकने लगता है।''[8] आश्चर्य की बात तो यह है कि दूधनाथ सिंह तो स्वयं 'राम की शक्तिपूजा' को उसकी व्याख्याओं के पारम्परिक और भावोच्छनपूर्ण व्याख्याओं, प्रशस्तियों से बचाने को कृतसंकल्प हैं, वे 'राम की शक्तिपूजा' के यथार्थ और वास्तविक मूल्यांकन के पक्षधर हैं, वे उस कविता के अक्षत सौन्दर्य के पक्षपाती हैं तो फिर क्यों वे 'राम की शक्तिपूजा' को सिर्फ आत्मसाक्षात्कार तक सीमित कर उसे उसके राष्ट्रीय संदर्भों के मूल्यांकन मूल्यवान पक्ष से जुदा कर देते हैं? निराला तो वैसे भी अपनी अनुभूतियों को, अपने रचनात्मक संघर्ष को सीधे–सीधे अपनी कविताओं में बड़ी प्रामाणिकता से अंकित करते ही रहे हैं तो फिर उन्हें 'रामकथा' का आश्रय लेने की जरूरत ही क्यों होगी? निस्संदेह इस कविता का महत्त्व, उसके अर्थ का संगुम्फन आत्मसाक्षात्कार तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। इसका अपना एक राष्ट्रीय महत्त्व भी है। यह कविता परम्परा का पुनराख्यान भी नहीं है बल्कि पारम्परिक प्रतीकों में रचित युगीन संघर्ष की प्रेरणाप्रद और शक्तिमयी गाथा है, महज आत्मसाक्षात्कार की कविता नहीं। बहरहाल अभी तो दूधनाथ सिंह जी द्वारा विश्लेषित इन लम्बी कविताओं के आत्मसाक्षात्कारात्मक अंश का अवलोकन जरूरी है क्योंकि बिना उनके मूल्यांकन के सर्वांगीण पक्षों का उद्घाटन किये उनकी आलोचना–दृष्टि का सम्यक् परीक्षण नहीं किया जा सकता। वे लिखते हैं– ''मुझे बराबर लगता है कि निराला ने राम के संशय, उनकी खिन्नता, उनके संघर्ष और अन्ततः उनके द्वारा शक्ति की मौलिक कल्पना और साधना तथा अन्तिम विजय में अपने ही रचनात्मक जीवन और व्यक्तिगतता के संशय, अपनी रचनाओं के निरन्तर विरोध से उत्पन्न आन्तरिक खिन्नता, फिर अपने संघर्ष, अपनी प्रतिभा के अभ्यास, अध्ययन और कल्पना ऊर्जा द्वारा एक नयी शक्ति के रूप में उपलब्ध और प्रदर्शित करके अन्ततः रचनात्मकता की विजय का घोष ही इस कविता में व्यक्त किया है। वही स्वयं 'पुरुषोत्तम नवीन

हैं। नये काव्य, नयी रचनात्मकता के सर्वप्रथम और श्रेष्ठतम उद्‌भावक वही हैं..... अपनी इसी खिन्न मनःस्थिति का सघन बिम्ब–चित्र निराला राम के रूप वर्णन में करते हैं :

'अनिमेष राम–विश्वजिद्दिव्य शर–भंग–भाव
विद्धांग–बद्ध–कोदण्ड–मुष्टि खर रुधिर स्राव।'

यह छवि सिर्फ राम की ही नहीं है– कवि की भी है.....उसका सारा मन क्षत–विक्षत है। मुट्ठियाँ गुस्से में कसी हुई हैं। मन का घाव रिस रहा है। अन्दर लगातार खून बह रहा है..... शुद्ध, लाल–लाल, पवित्र, मौलिक रचनात्मक ऊर्जा का खून.....जिस पर लगातार वर्षों से प्रहार होता रहा है। कवि के मन–मस्तिष्क पर ही नहीं, उसके सिंहवत शरीर पर भी प्रहार की छाप विद्यमान है.....लेकिन यह अवसादग्रस्त उदास, मानसिक–शारीरिक सौन्दर्य का धुँधलापन, उसकी आच्छन्नता क्षणिक है। अभी भी कवि की तेजस्वी रचनात्मक क्षमता के नेत्र टिमक रहे हैं– उसकी दूरदर्शिता बरकरार है, जैसे अँधेरे पर्वत–प्रदेश से दूर कहीं सितारे चमक रहे हों।''[9] ध्यान देने की आवश्यकता है कि निराला की प्रस्तुत कविता में चित्रित संघर्ष तत्कालीन राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष का है न कि यह महज निराला की उदासी, खिन्नता और संशय के भवावेग का चित्रण। आलोचक दूधनाथ सिंह ने 'राम की शक्तिपूजा' जैसी श्रेष्ठ कविता, जिसमें स्वाधीनता–संघर्ष की चेतना सीधे–सीधे झलक मारती है, उसका ही सशक्त और ओजस्वी शब्दों में आख्यान प्रस्तुत करती है– का विश्लेषण निराला की खिन्न मानसिकता, उदासी और नैराश्य से करके क्या इस कविता के साथ अन्याय नहीं किया है? उसके राष्ट्रीय पक्ष, सजग युगबोध, संघर्ष–गाथा को सीमित कर उसे मात्र निराला के दुख–दैन्य और रचनात्मकता से जोड़कर उसके विस्तृत अर्थसंधान को क्षत–विक्षत नहीं किया है? उनका यह विश्लेषण विद्वतापूर्ण होते हुए भी कविता के बहु विस्तीर्ण अर्थसंधान को सीमितता प्रदान कर रहा है जो इस महत्त्वपूर्ण कविता के साथ प्रत्यक्षतः किया गया अन्याय है। प्रायः दूधनाथ सिंह जी ने अपने सम्पूर्ण विस्तृत विश्लेषण को एक ही दिशा में व्याख्यायित किया है। जैसे–जैसे कविता आगे बढ़ती जाती है उन्हें आत्मसाक्षात्कार की अनुगूँज भी उत्तरोत्तर गहरी होती सुनाई देती है। कविता के सारे प्रतीकार्थ को वे बड़ी कुशलता स निराला के व्यक्तित्व में पिरोते चलते हैं। उसमें चित्रित राम की चिन्ता को सिर्फ निराला की चिन्ता, आशावादिता को निराला की ही आशावादिता, खिन्नता को उनकी ही खिन्नता से जोड़ते चलते हैं। वे लिखते हैं– ''अपने निजत्व की समीपतम पहचान का यह प्रतीकार्थ, धीरे–धीरे इसी तरह पूरी कविता में संगुम्फित होता हुआ आगे बढ़ता है। इस खिन्नता, उदासी और क्षणिक नैराश्य के बाद फिर उसे अपनी रचनात्मक कोमल ऊर्जा का प्रथम साक्षात्कार याद आता है। कला साधना के वे शुरू के दिन। जानकी का सारा प्रसंग इसी कलात्मक संरचना के प्रारम्भिक दिनों का प्रतीकार्थ देता है। इसमें कविता कवि से गोपन संभाषण करती है, प्राकृतिक वैभव विलास और सौन्दर्य से भरपूर। उसके प्रथम अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने एक सम्पूर्ण वाक्य–बिम्ब की रचना की है– 'ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय ज्ञात छवि प्रथम स्वीय'। जैसे प्रकाश का स्वर्गीय झरना हो..... कुछ इस तरह के आन्तरिक सौन्दर्य का अनुभव। कवि अपनी उस प्रथम रचना–ऊर्जा के ऊर्जस्वित सौन्दर्य की स्मृति से जैसे फिर जागता है।''[10] यहाँ स्पष्ट है कि दूधनाथ सिंह जी ने जानकी मिलन के सारे प्रसंग को निराला की रचनात्मक कोमल ऊर्जा के प्रथम साक्षात्कार से जोड़कर विश्लेषित किया है।

वस्तुतः इस कविता में चित्रित जानकी प्रसंग प्रेम की कोमल भावाभिव्यंजना तथा नारी की प्रेरणामयी शक्ति तथा उसकी रचनात्मिका शक्ति का आख्यान प्रस्तुत करता है। अगर प्रतीकार्थ में हम प्रस्तुत प्रसंग को निराला के 'निजत्व की समीपतम' पहचान के अर्थ में लें तो यह प्रसंग निराला के जीवन में प्रेमोदय, प्रेम, मिलन तथा उनकी प्रेयसी और पत्नी मनोहरा देवी के प्रथम मिलन या साक्षात्कार के अर्थ की प्रतीति कराता है न कि उनकी रचनात्मकता की। वैसे भी सन 30–35 के पूर्व ऐसी बहुत कम रचनाएँ होंगी जो निराला की रचनात्मकता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कही जा सके, यद्यपि निराला की काव्य रचना में रचनात्मक उपलब्धियों की निरन्तरता सदैव विद्यमान रही। दूधनाथ सिंह जी ने प्रस्तुत कविता को प्रबन्धात्मकता के पारम्परिक ढाँचे तथा राम कथा से हटाकर विश्लेषित करने का प्रयास किया है तो भी इससे कविता के अर्थ संधान में कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई। प्रस्तुत कविता की रचनात्मकता की अर्थवत्ता की क्षति तो तब हुई जब उसे उसके युग–जीवन के सापेक्ष विश्लेषित न कर निराला के व्यक्तिगत जीवन–संदर्भों से ही जोड़कर विश्लेषित किया। कविता को एक प्रकार की निरर्थक व्याख्या से मुक्त कराकर दूसरे प्रकार की निरर्थक व कम महत्त्वपूर्ण व्याख्या से संबद्ध कर दिया। सच है कि निराला के निजत्व की समीपतम पहचान के अंश भी कविता में दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन प्रधानता राष्ट्रीय संदर्भों की, सजग चेतना की है। यह तो स्वाधीनता प्राप्ति हेतु संघर्षरत क्रान्तिकारियों के लिए सृजित आशाप्रद आख्यान की कविता है जैसा कि डॉ0 राजेन्द्र कुमार जी ने कहा है कि यह कविता 'निराशा से आशा की ओर किया गया प्रमाण है।'

'राम की शक्तिपूजा' की तरह दूधनाथ सिंह जी 'तुलसीदास' को भी आत्मसाक्षात्कार की ही कविता मानते हैं। उनके अनुसार 'तुलसीदास' लम्बी कविता में तुलसी के व्यक्तित्व के माध्यम से निराला ने अपने ही रचनात्मक आयामों की चिन्ता का उद्‌घाटन किया है। यद्यपि दूधनाथ जी मानते हैं कि इस कविता में निराला की मुख्य चिन्ता भारत के सांस्कृतिक अन्धकार को लेकर व्यक्त की गई है लेकिन इसका अर्थ महज इतने तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि इसका अर्थ निराला के निजी जीवन में व्याप्त संघर्ष और उनके आत्मसाक्षात्कार के अंशों के साथ जुड़ता है। वे लिखते हैं– ''तुलसीदास कविता में निराला द्वारा प्रतिष्ठित ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक अर्थ अधिक स्पष्ट है। उसके संकेत साफ हैं और उनकी दुहरी अर्थव्यंजना पकड़ने में कठिनाई नहीं होती। भारत के सांस्कृतिक अंधकार की चिन्ता से कविता प्रारम्भ होती है। लेकिन इस अर्थ के साथ ही निजी आत्मसाक्षात्कार का अर्थ और अधिक स्पष्टता और गहराई से निराला ने इस कविता में पिरोया है। 'राम की शक्तिपूजा' में कवि के निजी अर्थ–सम्भार– उसकी रचनात्मकता के संघर्ष को ढूँढ़ना और मिलाना पड़ता है.....'राम की शक्तिपूजा' में मुक्ति के प्रतीक राम–राम ही हैं निराला नहीं। निराला वे तब हैं, जब वे कवि के निजी रचनात्मक संघर्ष के आत्मसाक्षात्कार वाले प्रतीकार्थ में नियोजित होते हैं।''[11] जहाँ तक 'तुलसीदास' और निराला के व्यक्तित्व का तुलनात्मक आभास वाली पंक्तियों की अर्थसंघटना से है, आत्मसाक्षात्कारात्मक अंश से है वहाँ तक तो ठीक है क्योंकि राष्ट्रीय पराभव और सांस्कृतिक पराभव से तुलसीदास भी चिन्तित होते हैं, उनसे मुक्ति की राह खोजते हैं और स्वयं कवि निराला भी। वस्तुतः वह कवि है ही नहीं जो राष्ट्रीय पराभव और दुर्दशा से चिन्तित न हो, जो राष्ट्र को मुक्ति का मार्ग न दिखलाए। यहाँ समस्या तब आती है जब दूधनाथ जी 'तुलसीदास'

कविता में निराला, राम और तुलसीदास इन तीनों के व्यक्तित्व को एकमेक करके मूल्यांकित करते हैं। 'तुलसीदास' कविता में राम प्रत्यक्षतः नहीं हैं हाँ राम के उपासक तुलसी हैं जिनका अर्थसंधान निराला के व्यक्तित्व में किया जा सकता है लेकिन निराला के व्यक्तित्व को राम में नियोजित नहीं किया जा सकता। खासतौर पर 'तुलसीदास' कविता में। राम की शक्तिपूजा में तो संभव है कि राम के संघर्ष को निराला के संघर्ष पर आरोपित किया जा सके लेकिन 'तुलसीदास' कविता में राम और निराला में कोई एकतानता नहीं, कोई साम्यता नहीं। लेकिन दूधनाथ सिंह जी ने इस कविता में तुलसीदास और राम को निराला में ही रूपान्तरित कर दिया है। उनके शब्दों में– "'तुलसीदास' में तुलसीदास राम भी हैं और यह तुलसी और उनमें प्रतिरोपित राम–निराला ही हैं। यानी कि राम कथा के रचयिता तुलसीदास और राम और निराला यहाँ एक हो जाते हैं।"[12] अपने विवेचन के इसी क्रम में दूधनाथ जी एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थापना भी कर जाते हैं जब वे लिखते हैं– "तुलसीदास के माध्यम से यह जनसाधारण की दुर्दशा और सांस्कृतिक अंधकार की चिन्ता निराला के कवि की आधुनिक चिन्ता है।"[13]

वस्तुतः यह है कविता के सही संदर्भ को समझने वाली सजग आलोचकीय दृष्टि। दूधनाथ सिंह जी की यह स्थापना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कृति के वास्तविक कथ्य का उद्‌घाटन इन पंक्तियों में हुआ है। यह कविता सांस्कृतिक पराभव से उत्पन्न निराशा को आशा में परिणत करने के प्रयास स्वरूप लिखी गयी है। समूचे राष्ट्र में खोये हुए गौरव की पुनः स्थापना तथा राष्ट्रीय जागरण ही इस कविता का मूल कथ्य है। इस सारी पृष्ठभूमि को जानने–समझने के बावजूद दूधनाथ सिंह जी पुनः इस कविता को निराला के व्यक्तिगत जीवनसंदर्भों से जोड़कर व्याख्यायित करने लगते हैं। और तभी स्पष्ट प्रतीत होता है कि दूधनाथ सिंह जी कविता के सारे अर्थ–तन्तुओं की स्पष्ट समझ होने पर भी अपने पूर्वाग्रह को ही आरोपित करते चलते हैं। और जब हमारे पूर्वाग्रह और हमारी पूर्वधारणा ही गलत होगी तो स्वाभाविक है कि निष्कर्ष भी गलत दिशा में अग्रसर होने लगेंगे। यही हुआ भी।

आइए अब हम देखते हैं कि कैसे विद्वान आलोचक दूधनाथ सिंह जी अपनी समूची आलोचकीय सूझ–बूझ को दरकिनार कर अपने पूर्वाग्रहों के चलते 'तुलसीदास' कविता के अर्थविस्तार को अर्थसंकोच में परिणत कर देते हैं। वे लिखते हैं– ''इसीलिए मैंने कहा कि यहाँ कवि की रचनात्मक सिद्धि और उपलब्धि के अर्थ के भीतर से ही उसके सांस्कृतिक निर्माण का अर्थ भी उगता है, क्योंकि निराला जानते हैं कि उन्हीं मन्त्रपूत ओजस्वी वाणी, मौलिक वाग्मिता और गहरे अध्ययन तथा जीवन और संस्कृति की विराट समझ के भीतर से पुनः भारतीय जनता के लिए आशा–विश्वास और आस्था का नया सूर्य उगेगा–

''देश काल के शर से बिंध कर
जागा यह कवि अशेष छवि धर
इसका स्वर भर भारती मुखर होयेंगी
निश्चेतन, निज तन मिला विकल
छलका शत–शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोयेंगी।''[14]

यह सच है कि निराला राष्ट्र की शिराओं में आशा, उत्साह, विश्वास और आस्था का संचार करना चाहते हैं लेकिन इसका प्रतीक पुरुष तुलसीदास या लोगों के मन में गहरी निष्ठा के रूप में विराजित कवि तुलसी के महान व्यक्तित्व को मानते हैं न कि स्वयं को। अगर कवि स्वयं की ही साधना की प्रशस्ति करने लगेगा तो यह कविता 'अहम्मन्यता' और 'कवि की गर्वोक्ति' के सिवा कुछ नहीं होगी लेकिन यहाँ ऐसा है नहीं। यहाँ निराला 'तुलसीदास' के माध्यम से भारतीय जनता के खोये हुए गौरवबोध को जागृत कर राष्ट्र की शिराओं में ऊर्जा की अनन्त राशि को प्रवाहित करना चाहते हैं ये अलग बात है कि कवि निराला स्वयं तुलसीदास से प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं, तुलसीदास के विराट व्यक्तित्व से हमेशा कुछ सीखने, रचने का संकल्प ग्रहण करते रहे हैं। यह कविता तुलसीदास के माध्यम से जागृति का संदेश देने वाली कविता है। निराला कहना चाहते हैं जब एक मध्यकालीन व्यक्ति जबकि स्थितियाँ विषम थीं, देश मुगलों द्वारा पराभूत था तब उसने प्रेम, भक्ति और ऊर्जा के अजस्र स्रोत को प्रवाहित कर दिया तो हम सब भारतीय मिलकर क्या राष्ट्र को गुलामी से मुक्ति नहीं दिला सकते? और तभी तो वे लिखते हैं–

''जागो जागो आया प्रभात
बीती वह बीती अंध रात।''

यहाँ दूधनाथ सिंह द्वारा निराला के निजत्व की पहचान को प्रस्तुत कविता में रेखांकित करना गलत नहीं है, गलत है उसे ही प्रमुखता प्रदान करना। कविता की विराटता, व्यापकता को सीमित करना आलोचना नहीं, आलोचना तो उसकी मूल्यवत्ता की प्रतिष्ठा, उसके अर्थसंधान को व्यापकता प्रदान करना है। आज निराला होते तो शायद गालिब की इन पंक्तियों को गुनगुना रहे होते, दूधनाथ सिंह जी स्थापना देखकर–

'खुलेगा किस तरह मजमूँ मेरे मकतूब का या रब,
कसम खायी है उस काफिर ने कागज को जलाने की।'

कविता के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक संदर्भों को भली भाँति समझने के बावजूद दूधनाथ सिंह जी इसे निजत्व की समीपतम पहचान की कविता घोषित कर देते हैं–

''निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अपनी इन लम्बी कथात्मक कविताओं का भी विषय निराला स्वयं हैं। इस तरह की कविताएँ उनके गीतों या ऋतु–कविताओं की तरह ही गहरे आत्मसाक्षात्कार की कविताएँ हैं। इन कविताओं में निराला ने दुहरे स्तर पर अपने को छुआ है उनकी पहली चिन्ता ऐतिहासिक और राष्ट्रीय उन्नयन की है, और दूसरी चिन्ता अपनी रचनात्मकता और प्रतिभा–तेजस्विता की छानबीन, पुनर्पहचान तथा प्रतिष्ठा। इन्हीं दोनों अथो का साक्षात्कार इन कविताओं के माध्यम से अत्यन्त सफलतापूर्वक निराला ने किया है।''[14]

यहाँ विद्वान आलोचक दूधनाथ सिंह से पूछा जा सकता है कि जब निराला ने अपनी इन लम्बी कविताओं में ''दुहरे स्तर पर अपने को छुआ है'' तो क्या कारण है कि आप उसे अपनी विद्वतापूर्ण व्याख्या से इकहरे ही संदर्भों में विश्लेषित करते हैं। यहाँ सिर्फ इतना निवेदन है कि अगर कविता से दुहरे अर्थों की प्रतीति हो रही हो तो आलोचक का दायित्व है कि उसे दोनों ही संदर्भों में विश्लेषित करे। वस्तुतः रचना के वृहत्तर संदर्भों का व्याख्यान, उसके बहुविध विस्तीर्ण अर्थ–तन्तुओं का उद्घाटन ही सच्ची आलोचना है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 14
2. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 16
3. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 16
4. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 2
5. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 109
6. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 14
7. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 26
8. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 116
9. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 116–117
10. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 117
11. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 124
12. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 124
13. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 124
14. दूधनाथ सिंह– निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ0 124

श्रीराम वनगमन का मूल्य आधारित चिंतन

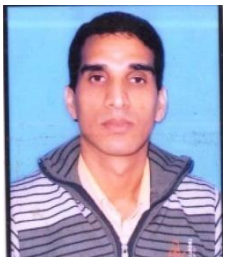

श्री सूर्य प्रकाश मिश्र
(सहायक आचार्य विशेष शिक्षा विभाग, एच.आई.)

जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय,
चित्रकूट (उ.प्र.) 210204

प्रभु श्रीराम सांस्कृतिक पुरुष के रूप में भारतीय संस्कृति के परम आदर्श हैं। वैदिक संस्कृति की मर्यादा का सर्वोत्कृष्ट रक्षक होने के कारण मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। श्रीराम के वनगमन काल में सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना का जो अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है उससे भारतीय संस्कृति सदैव गौरवान्वित रहेगी। श्री अयोध्या जी से श्रीलंका तक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने पदयात्रा करते हुए चौदह वर्षों में भारतीय संस्कृति के धर्म का परिपालन कर आदर्श धर्म प्रचारक की भूमिका का निर्वाह किया।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के वनगमन काल के ज्ञात लगभग तीन सौ स्थलों से पता चलता है कि उनका उद्देश्य सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना करना था। उन सभी स्थलों पर जाने का उद्देश्य आध्यात्मिक मूल्यों को बल देना या पिछड़े उपेक्षित वनवासियों का आत्मबल जागृत करना तथा ऊँच–नीच का भेद–भाव मिटाना था। श्रीराम ने श्रृंग्वेरपुर में गंगातट पर पहुँच कर निषादराज गुह के यहाँ रात्रि विश्राम किया और निषादराज से उनकी कुशलता पूछी। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में वर्णन प्राप्त होता है –

भुजाभ्यां साधु वृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत।।
दिष्टया त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च ।।[1]

अर्थात् फिर श्रीराम ने अपनी दोनो गोल–गोल भुजाओं से गुह का अच्छी तरह आलिंगन करते हुये कहा– ''गुह सौभाग्य की बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु–बान्धवों के साथ्ज्ञ स्वस्थ्ज्ञ एवं सानन्द देख रहा हूँ। बताओं तुम्हारे राज्य में मित्रों के यहाँ तथा वनों में सर्वत्र कुशल तो हैं''।

श्रीराम उत्तर भारत और दक्षिण भारत की दो संस्कृतियों का समन्वय करने हेतु रामेश्वरम् में समुद्र तट पर रामसेतु का निर्माण करते हैं। अविरल प्रवाह वाली पुनीत सरिताओं की तरह नदियों के तटों की पदयात्रा करते हुए नदियों के किनारे स्थित आश्रमों एवं उससे पल्लवित संस्कृति को प्रवाहमान बनाते हैं। प्राचीनकाल में नदियों के किनारे ही संस्कृतियों का उदय एवं विस्तार हुआ। प्रभु श्रीराम ने अयोध्या से श्रीलंका तक नदियों के किनारे–किनारे ही यात्रायें की। अयोध्या में सरयू नदी, महर्षि वाल्मीकि ऋषि से टमसा नदी, मुनि भारद्वाज जी से गंगा के किनारे, यमुना के किनारे चलते हुए, महर्षि अत्रि जी से मंदाकिनी नदी के तट पर, देवी शबरी से तुंगभद्रा के किनारे, लोमश ऋषि से दण्डकारण्य में महानदी के किनारे, नासिक

पंचवटी में गोदावरी के किनारे, श्रीलंका–कावेरी के तटों की यात्रायें कर वहाँ की संस्कृतियों का पोषण किया।

नर्मदा नदी को कुवाँरी माना जाता है और पूज्य सन्त लोग नर्मदा की परिक्रमा करते हैं तथा उसे पार नहीं करते। नर्मदा भगवान सूर्य की पुत्री हैं। भगवान श्रीराम भी सूर्यवंशी हैं। जिस कारण उस समय की मान्यतानुसार नर्मदा जी को पार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीराम ने परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का सम्मान किया।

भगवान श्रीराम भारतीय संस्कृति की मान्यताओं का जगह–जगह सम्मान और उनकी स्थापना करते हैं। भगवान श्रीराम अपने पिता का श्राद्ध संस्कार पवित्र नदियों–सरोवरों एवं तीर्थों में करते हैं। चित्रकूट में मंदाकिनी में पृथ्वीपालक श्रीराम ने जल से भरी हुयी अंजलि ले दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके रोते हुये इस प्रकार कहा–

एतत् ते राजशार्दूल विमलं तायमक्षयम्।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ।।[2]

अर्थात् मेरे पूज्य पिता राजशिरोमणि महाराज दशरथ ! आज मेरा दिया हुआ यह निर्मल जल पितृलोक में गये हुये आपको अक्षय रूप से प्राप्त हो। इसके बाद मंदाकिनी के जल से निकलकर किनारे पर आकर तेजस्वी श्रीरघुनाथ जी ने अपने भाइयों के साथ मिलकर पिता के लिये पिण्डदान किया।

ततो मंदाकिनी तीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह।।[3]

सोन तथा महानदी के पवित्र संगम में पिता के आत्मकल्याण हेतु भारतीय संस्कृति की मान्यता के अनुसार श्राद्ध तर्पण करते हैं। आज भी लोग इन स्थानों पर इसी कारण से श्राद्ध करते हैं। नासिक के पास स्थित कुशावर्त तीर्थ में भी पिता का श्राद्ध–संस्कार किया।[5] गीधराज जटायु की मृत्यु पर भी भगवान श्रीराम यथोचित मरणोत्तर श्राद्ध–संस्कार जलाँजलि प्रदान करते हैं। जिसका वर्णन वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड से प्राप्त होता है।

शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृधाय राघवौ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा।।[4]

अर्थात् रघुकुल के उन दोनों महापुरुषों ने गोदावरी में नहाकर शास्त्रीय विधि से उन गृध्रराज के लिये उस समय जलाँजलि का दान किया। इतना ही नहीं जिन राक्षसों का वध करते हैं उनका भी उनके विधि अनुसार मरणोत्तर संस्कार करने का निर्देश देते हैं।

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।।[5]

श्रीराम बोले–'विभीषण! वैर जीवन–काल तक ही रहता है। मरने के बाद उस वैर का अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, अतः अब तुम इसका संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेह का पात्र है, उसी तरह मेरा भी स्नेहभाजन है'।

वैदिक संस्कृति के मान्यतानुसार ब्राम्हण का वध नहीं करना चाहिए। ब्राम्हण वध करने पर ब्रह्म हत्या का पाप लगता हैं। खर–दूषण, त्रिसिरा का वध करने पर ब्रह्म हत्या स्वीकार कर उसके निवारण हेतु एक सौ आठ शिवलिंगों की स्थापना करते हैं। रावण भी ब्राम्हण है जिसके

वध के पहले अपने इष्ट देवता भगवान शिव की रामेश्वरम में स्थापना करते हैं। अयोध्या वापस जाने पर रावण के वंश का संहार करने एवं ब्रह्म हत्या दूर करने हेतु विराट अश्वमेध महायज्ञ का आयोजन श्री अयोध्या जी में करते हैं।[6]

वैदिक संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति है जो आरण्यकों, और ऋषि–आश्रमों में ही पल्लवित हुई। भगवान श्रीराम इन ऋषियों के सानिध्य में बैठकर गहन–चिन्तन, मनन कर समस्या का निवारण करने हेतु साहसिक प्रयत्न करते हैं। चित्रकूट में खर–दूषण के आतंक से प्रभावित ऋषियों की दशा को देखकर द्रवित होते हैं और कठिन संकल्प लेते हैं **'निशिचर हीन करहु महि भुज उठाय प्रण कीन्ह'** इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु आसुरी संस्कृति से सबसे अधिक प्रभावित दण्डकारण्य को अपना कार्य क्षेत्र बनाते हैं और पूरे वनवास काल में संघर्षरत रहते हैं। बहुत से राजर्षि और महर्षि अगस्त्य आदि महर्षि मिलकर श्रीराम के पास आये और श्रीराम से इस प्रकार बोले –

एषां वधार्थं शत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम्।
तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज।।
स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः।[7]

अर्थात् 'मुनियों के शत्रुरूप इन पापाचारी राक्षसों के वध के लिये ही आपका यहाँ शुभागमन आवश्यक समझा गया था। दशरथनन्दन! आपने हम लोगों का यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया। अब बड़े–बड़े ऋषि–मुनि दण्डकारण्य के विभिन्न प्रदेशों में निर्भय होकर अपने धर्म का अनुष्ठान करेंगे।

प्रभु श्रीराम ने अयोध्या से श्रीलंका तक नदियों के किनारे–किनारे ही यात्रायें की। अयोध्या में सरयू नदी, महर्षि वाल्मीकि ऋषि से तमसा नदी, मुनि भारद्वाज जी से गंगा के किनारे, यमुना के किनारे चलते हुए, महर्षि अत्रि जी से मंदाकिनी नदी के तट पर, देवी शबरी से तुंगभद्रा के किनारे, लोमश ऋषि से दण्डकारण्य में महानदी के किनारे, नासिक पंचवटी में गोदावरी के किनारे, श्रीलंका–कावेरी के तटों की यात्रायें कर वहाँ की संस्कृतियों का पोषण किया।नर्मदा नदी को कुवाँरी माना जाता है और पूज्य सन्त लोग नर्मदा की परिक्रमा करते हैं तथा उसे पार नहीं करते। नर्मदा भगवान सूर्य की पुत्री हैं। भगवान श्रीराम भी सूर्यवंशी हैं। जिस कारण उस समय की मान्यतानुसार नर्मदा जी को पार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीराम ने परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का सम्मान किया।

भगवान श्रीराम नित्य संध्यावन्दन एवं अपने इष्टदेव की उपासना भी करते हैं। भगवान श्रीराम ब्रह्म परमेश्वर हैं फिर भी भारतीय संस्कृति की मान्यतानुसार नित्य इष्टदेव की उपासना आवश्यक है। श्रीराम ने जाबालि के नास्तिक मत का खण्डन करके आस्तिक मत को स्थापित किया।

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः।।[8]

अर्थात् 'जो पुरुष धर्म अथवा वेद की मर्यादा को त्याग देता है, वह पापकर्म में प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं; इसलिए वह सत्पुरुषों में कभी सम्मान नहीं पाता है'।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।

तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः।।[9]

अर्थात् 'सत्य का पालन ही राजाओं का दया प्रधान धर्म है– सनातन आचार है, अतः राज्य सत्य स्वरूप है। सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है। क्योंकि राजाओं के जैसे आचरण होते हैं प्रजा भी वैसे ही आचरण करने लगती है। ऋषियों और देवताओं ने सदा सत्य का ही आदर किया इस लोक में सत्यवादी मनुष्य अक्षय परमधाम में जाता है। सेतुबन्ध में रामेश्वरम शिवलिंगों की स्थापना करते हैं।

भगवान श्रीराम के इस कार्य से उन दिनों के शैव और वैष्णवमतों में सांस्कृतिक समन्वय स्थापित होता है। इसलिए शिव उपासना को अपनी दिनचर्या में शामिल करते हैं। श्रीराम तीर्थों को पूर्ण महत्व देते हैं और उनमें श्रद्धा–पूर्वक स्नान करते हुए एवं उनके महत्व को स्थापित करते हैं। प्रयागराज में अक्षयवट की माता सीता पूजन करती हैं।

न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत।
नमस्तेयस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम्।।[10]

अर्थात् वट के समीप पहुँचकर विदेहनन्दिनी सीता ने उसे मस्तक झुकाया और इस प्रकार कहा–'महावृक्ष! आपको नमस्कार है। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे पतिदेव अपने वनवास विषयक व्रत को पूर्ण करें। यमुना नदी के शीतल जल में स्नान आदि करके ऋषि–मुनियों द्वारा सेवित रमणीय एवं मनोरम पर्वत चित्रकूट पर जा पहुँचे।[11]

चित्रकूट में परम पावन मंदाकिनी में श्रद्धापूर्वक स्नान करते हैं। चित्रकूट में प्रवेश कर सर्वप्रथम वाल्मीकि ऋषि से मिलकर अपने निवास का परामर्श करते है तथा चित्रकूट में पर्णकुटी बनाकर विधिवत वास्तु देवता एवं सभी देवताओं का पूजन सम्पन्न करके ही पर्णकुटी में प्रवेश करते हैं। श्री राम सुमित्राकुमार से कहते हैं कि –

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम्।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः।।[12]

'सुमित्राकुमार! हम गजकन्द का गूदा लेकर उसी से पर्णशाला के अधिष्ठाता देवताओं का पूजन करेंगे; क्योंकि दीर्घ जीवन की इच्छा करने वाले पुरुषों को वास्तु शांति अवश्य करानी चाहिए।

इस प्रकार भगवान श्री राम अपने वनगमन काल में भारतीय संस्कृति निष्ठ धर्म दर्शन का स्वयं आचरण करते हुए दूसरों की भी अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा देते हैं। भारतीय संस्कृति की मान्यता के अनुसार यही अवतार का प्रयोजन भी है। जिसे पूर्णरूपेण सार्थक सिद्ध करके भारतीय संस्कृति के प्रेरणा पुरुष बनते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. वाल्मीकि रामायण 2/50/41–42
2. वाल्मीकि रामायण 2/103/27
3. वाल्मीकि रामायण 2/103/28
4. वाल्मीकि रामायण 3/68/36
5. वाल्मीकि रामायण 6/109/25

6. वाल्मीकि रामायण 7/83/5
7. वाल्मीकि रामायण 3/30/36
8. वाल्मीकि रामायण 2/109/3
9. वाल्मीकि रामायण 2/109/10
10. वाल्मीकि रामायण 2/55/24
11. वाल्मीकि रामायण 2/56/12
12. वाल्मीकि रामायण 2/56/22

त्रिलोचन के काव्य में धार्मिक चिन्तन का स्वरूप

डॉ. सुभाष चन्द्र पाण्डेय

अमेठी (उ.प्र.)
9473831621

त्रिलोचन की धार्मिक चेतना का साक्षात्कार करने से पूर्व यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि उनका साहित्य हमें न तो किसी धर्म विशेष में आस्था रखने की ही प्रेरणा देता है और न ही किसी धर्म विशेष के प्रति हमारे अन्तस् में घृणा का ही संचार करता है बल्कि उनका साहित्य तो भारतीय जनमानस को अंध धार्मिकता के इस दुरूह व्यामोह से ही दूर रहने का संदेश देता है। वे एक सजग कवि हैं अतः वे धर्म के सकारात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों से भलीभॉति परिचित हैं। वे जान रहे हैं कि प्रत्येक धर्म की अनेक ऐसी स्थापनाएं हैं जो मानव में सर्जनात्मकता की सृष्टि करके समाज में आपसी सौहार्द, प्रेम, करुणा, समानता, भ्रातृत्व जैसे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में सक्षम हैं लेकिन वह यह भी भलीभांति जान रहे हैं कि धर्म का उपयोग सत्ता ने हमेशा अपने स्वार्थों के लिए, उसकी प्रतिपूर्ति के लिए किया है। जनता के अनेक वर्गों को एक दूसरे से लड़ाया है। समाज में विद्वेष, घृणा, हिंसा, लूटपाट, जैसी मानवता के प्रतिकूल शक्तियों को बढ़ावा दिया है। इतिहास साक्षी रहा है कि धर्म का पुरोधा बनने वाले मौलवियों एवं मठाधीशों ने मध्ययुगीन साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ा करके समाज को युद्ध के भयंकर गर्तों में झोंक दिया है। धर्म के इस घृणित पक्ष से समूची मानवता शर्मसार हुई है और यही कारण रहा है कि त्रिलोचन के साहित्य में अंशतः ही सही लेकिन बड़ी मजबूती से धर्म विरोधी चेतना के स्वर की अनुगूंज सुनाई देती है। वे जानते हैं कि धर्म के ये दुर्ग जिन्हें ध्वस्त करना है कमजोर नहीं हैं। बड़ी मजबूती से समाज को अपने चंगुल में जकड़े हुए हैं अतः इन पर प्रहार भी बड़े ही सुनियोजित और वेग से करने की जरूरत है जिससे इनका ध्वंसावशेष भी निःशेष हो जाए–''करता हूँ आक्रमण धर्म के दृढ़ दुर्गों पर/कवि हूँ, नया मनुष्य मुझे यदि अपनायेगा/उन गानों में अपने विजय गान पाएगा/जिनको मैंने गाया है। वैसे मुर्गों पर/निर्भर नहीं सबेरा होना लेकिन इतना/झूठ नहीं है जहाँ कहीं वह बड़े सबेरे/ऊँचे स्वर में बोला करता है, मुँह फेरे/कोई पड़ा नहीं रह सकता है।''[1]

त्रिलोचन धर्म के इस निषेधपरक पक्ष के मजबूत आधार के जमे रहने पर गहरा क्षोभ व्यक्त करते हैं। उन्हें धर्म का यह स्वरूप जो समाज में घृणा द्वेष का भीषण हलाहल भर करके व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र को विषाक्त बना रहा है गहरे स्तरों पर संक्षुब्ध करता है। वे धर्म को सामाजिक दुरवस्था का भी कारण मानते हैं क्योंकि इसी धर्म ने समाज की शान्ति को, सौहार्द को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया है। आज समूचा समाज या कहें समूचा विश्व ही

धर्म के इन षड्यन्त्रों में उलझा हुआ है–'' आह भीषण हलाहल/समा गया है साँस साँस में घृणा द्वेष का/देख रहा हूँ व्यक्ति समाज राष्ट्र की बातें/एक दूसरे पर कठोरतर।''[2]

त्रिलोचन धर्म विरुद्ध यह उद्घोषणा अपने काव्य में ही नहीं करते बल्कि अपने गद्य में भी व्यक्त करते हैं। उनकी पंक्तियाँ साम्प्रदायिक शक्तियों के असली चेहरे को हमारे सामने उघारकर रख देती हैं। वे लिखते हैं–'' साम्प्रदायिक शक्तियाँ मध्ययुगीन दीपक के उजाले में ही रास्ता खोज रही हैं और इनकी बातें सुनने वालों का समुदाय भी बहुत बड़ा है। धर्मों के अलग अलग जितने भी नाम हैं सबके अपने अपने प्रचार यंत्र हैं। अतः धार्मिक संघटन जहाँ परस्पर विरोध को बढ़ावा देते हैं वहाँ अपनी शक्ति के विकास का भी पूरा प्रयत्न करते हैं। कभी कभी ये संघटन राजनीतिक और आर्थिक संघटनों के विरोध में भी खड़े होते हैं। ऐसी धर्म निरपेक्षता गीत की वह टेक है जिसके गायकों को उसके अर्थ का पता नहीं है। असलियत यह है कि किसी न किसी रूप में किसी न किसी धर्म की झलक सामने आ ही जाती है। धर्म निरपेक्ष जिसे कह सकें ऐसा कोई आदमी नहीं है।''[3]

और यही कारण है कि उनके काव्य में न किसी धर्म विशेष के प्रति अनुराग है और न ही विद्वेष। वे सच्चे अर्थों में मानव धर्म के समर्थक कवि हैं। मानवता ही उनका धर्म है। वे मानव धर्म के ही उपासक हैं तथा मानवतावादी मूल्यों के प्रचारक हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता हैं कि त्रिलोचन की धार्मिक चेतना मानवतावादी मूल्यों पर ही अवलम्बित है उनका काव्य मानवीय धर्म की प्रतिष्ठा का काव्य है। उनकी धार्मिक संचेतना उनके काव्य में निहित मानवतावादी मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में ही अपना स्वरूप ग्रहण करती है।

त्रिलोचन का साहित्य मानवता की मुक्ति का साहित्य है। मानव की इसी मुक्ति के लिए उनकी समूची काव्य साधना, उनका समग्र जीवनानुभव, उनका प्रगतिशील दृष्टि सम्पन्न आध्यात्मिक चिन्तन एवं सामाजिक सरोकार समर्पित है। देश ही नहीं विश्व में मुक्ति के स्वर सुनाई देते हैं तो उनकी अन्तस्कलिका मुकुलित हो जाती है–''किसी देश में मानवता को मुक्ति यदि मिली/तो मैंने जीवन पाया जी की कली खिली।''[4]

मानवता की मुक्तिकामी चेतना से सम्पृक्त उनका यह साहित्य समूचे साहित्य परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। त्रिलोचन धर्म को वहीं तक जरूरी और अनिवार्य मानते हैं जहाँ तक वह मानव को मानव से जोड़ सके, उनके जीवन को अनुशासित करे, उनके अन्तःकरण में सद्वृत्तियों का संचार करे एवं समाज के आपसी सौहार्द तथा प्रेम भाव में अभिवृद्धि करे। वह व्यक्ति को कर्मवाद की ओर उन्मुख करें। इन्हीं सद्वृत्तियों से संयुत धर्म को वे अनंत काल तक बनाये रखना चाहते हैं ऐसी वृत्तियों से युक्त धर्म सदैव वर्द्धमान रहे यह उन्हें अभीष्ट है–''धर्म विरोधी देखे धर्म नहीं डूबा है/गंगा जमुना के घाटों पर ठाट लगा है/सहज विरागी भी विराग से अब ऊबा है धर्म कर्म का बढ़ने वाला मंसूबा है।''[5]

वस्तुतः त्रिलोचन का साहित्य धर्म की रचनात्मकता का समर्थन करने वाला साहित्य है। उनके धार्मिक चिंतन के स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए हमें यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उनका साहित्य 'धर्म विनिर्मित अंधकार से' लड़ने वाला साहित्य है। ऐसा धर्म

जो मनुष्य के अंतःकरण के आयतन को संक्षिप्त करे, उनके चिंतन को कुन्द करे, उनमें हिंसा का विचार उत्पन्न करे, उस पर सतत प्रहार ही त्रिलोचन का काव्य स्वभाव बन गया है। त्रिलोचन के अनुसार वास्तविक अर्थों में धर्म वही है जो मानव का, प्रकृति का तथा मानवता का संरक्षण करे, प्राणि मात्र में समरसता का संचार करे। त्रिलोचन के ही शब्दों में–''जिनको भगवान ने रक्खा है उन्हें रहने दे/फूलने–फलने दें उनका कभी संहार न करें।''[6]

अगर कोई धर्म और ईश्वर के नाम पर समाज में नफरत की भावना का प्रसार कर रहा हो तो त्रिलोचन का साहित्य हमें ऐसे धर्म और ईश्वर के प्रतिकार की भी प्रेरणा देता है। अगर विधाता ही मानवता के विपरीत हो जाय तो मानव का भी धर्म है कि वह ऐसे विधाता के भी विपरीत हो जाय उसका विरोध करे, प्रतिकार करे–''विधाता की चिंता मुझे किस घड़ी थी/सुना वाम है तो उसे वाम छोड़ा।''[7]

साम्प्रदायिक शक्तियाँ मध्ययुगीन दीपक के उजाले में ही रास्ता खोज रही हैं और इनकी बातें सुनने वालों का समुदाय भी बहुत बड़ा है। धर्मों के अलग अलग जितने भी नाम हैं सबके अपने अपने प्रचार यंत्र हैं। अतः धार्मिक संघटन जहाँ परस्पर विरोध को बढ़ावा देते हैं वहाँ अपनी शक्ति के विकास का भी पूरा प्रयत्न करते हैं। कभी कभी ये संघटन राजनीतिक और आर्थिक संघटनों के विरोध में भी खड़े होते हैं। ऐसी धर्म निरपेक्षता गीत की वह टेक है जिसके गायकों को उसके अर्थ का पता नहीं है। असलियत यह है कि किसी न किसी रूप में किसी न किसी धर्म की झलक सामने आ ही जाती है। धर्म निरपेक्ष जिसे कह सकें ऐसा कोई आदमी नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रिलोचन का साहित्य धर्म का, विधाता का चिन्तन करने वाला साहित्य नहीं है बल्कि वह धर्म और विधाता को मानवता की सेवा में संलग्न करने वाला साहित्य है। इन अर्थो में उनकी धार्मिक संचेतना कबीर की धार्मिक संचेतना के सन्निकट प्रतीत होती है। इन्हीं अर्थों में वे आधुनिक कबीर भी हैं। स्वयं कबीर पर लिखी गई उनकी पंक्तियाँ उनकी धार्मिक संचेतना के स्वरूप को तथा उनके व्यक्तित्त्व को अभिव्यंजित करने में पूर्णतः समर्थ हैं–''ब्राह्मण को तुकारने वाला वह काशी का/जुलाहा जो अपने घर नित्य सूत तनता था/लोगों की नंगई ढाँकता था, आषी का/उन्मूलन करता था जिसका विष बनता था/जाति वर्ण का अंहकार। कब्रें खनता था/मुल्लो मौलवियों की झूठी शान के लिए/रूढ़ि और भेड़िया धसान को वह हनता था/शब्द बाण से, जीता था बस ज्ञान के लिए/गिरे हुओं को खड़ा कर गया मान के लिए।''[8]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि त्रिलोचन की धार्मिक चेतना परम्परानुमोदित जीर्णशीर्ण रूढ़ियों के उत्थान एवं उनके प्रसार से सर्वथा अलग है यहाँ (त्रिलोचन की धार्मिक संचेतना में) परम्परा का संस्कार, ज्ञान के प्रति गहरा अनुराग तथा उसे लोकसेवा से जोड़ना ही सच्ची धार्मिकता अथवा आध्यात्मिकता का पर्याय है उसका वास्तविक निहितार्थ है। उनकी धार्मिक भावना

लोकसेवा, लोकजागरण प्रकारान्तर से समग्र सांस्कृतिक जागरण का रूपान्तरण कही जा सकती है।

त्रिलोचन मूलतः न किसी धर्म विशेष के सिद्धांतों का समर्थन करते हैं और न ही किसी धर्म विशेष के सिद्धान्तों का निषेध। उनकी धार्मिक निष्ठा के केन्द्र में है मनुष्यता या मानवीयता या आदमीयत। जन सामान्य की उपेक्षा होने पर वे ईश्वर के स्वरूप को भी बदल सकते हैं और दीन हीन व्यक्ति में भी ईश्वर का साक्षात्कार कराते हैं–''दीन हीन, छवि क्षीण और व्याकुल ईश्वर को/आज सड़क पर हाथ पसारे मैंने पाया/पुनः परस कर देह, कहा ईष्वर से ईश्वर/बना लिया क्या हाल इधर तुमने भी अपना।''[9]

त्रिलोचन धर्म ग्रन्थों में वर्णित किसी देव विशेष की आराधना एवं उसके प्रसन्नार्थ तपः साधना, बीज मंत्रोच्चार नहीं करते हैं अपितु जनमानस के कल्याणार्थ अक्षर ब्रह्म की आराधना करते हैं तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसके जीवन संताप की हरने में लगा देते हैं–''देवाराधन अक्षर ब्रह्म का किया, अपनी/जैवाकांक्षा तप से साधा, मानस मल धोने की/चेष्टा संतत तप से की।''[10]

जनसामान्य की बदहाली से त्रिलोचन गहरे अर्थों में संक्षुब्ध हैं। असत् वृत्ति वालों का निरन्तर होता उत्थान उन्हें पीड़ित करता है। वस्तुतः सद्मार्गी साधारण जन जो निरन्तर परिश्रम में निषिवासर संलग्न हैं वे दो जून की रोटी के लिए मोहताज हैं। त्रिलोचन विधाता के इस विधान को स्वीकार नहीं कर पाते हैं और इस अव्यवस्था की मूलक किसी भी सत्ता, प्रभुसत्ता को वे नकार देते हैं उसका निषेध करते हैं–''विधाता की चिंता मुझे किस घड़ी थी।/सुना वाम है तो उसे वाम छोड़ा।''[11]

त्रिलोचन ने मनुष्य को ही ईश्वर माना है किंतु उनका ईश्वर भी आज अपनी स्वाभाविक मृत्यु नहीं पा रहा है इस बात से वे दुःखी हैं। वैसे भी असामयिक मरण व्यथा उत्पन्न करता है और फिर ईश्वर की अस्वाभाविक मृत्यु तो महाशोक का कारण है ही। पूँजीपतियों एवं सामंतों द्वारा ईश्वर पर घोर अत्याचार एवं अन्याय किया गया तथा उसका शारीरिक मानसिक एवं आर्थिक शोषण किया गया जिसके कारण ईश्वर को स्वाभाविक मृत्यु भी नसीब न हो सकी। इससे त्रिलोचन को गहरा दुःख है। उन्ही के शब्दों में–''मृत्यु हो चुकी है ईश्वर की/स्वाभाविक मौत न पाई ईश्वर ने, पूँजीपतियों ने सामंतों ने/उसे मार डाला उसकी खा गए कमाई/देश देश में जो संचित थी।''[12]

वस्तुतः त्रिलोचन की कविताएं यथार्थ से ही संपोषित होती हैं चाहे वे वैयक्तिकता के स्तर पर हों अथवा निर्वैयक्तिकता के स्तर पर। चाहे वे व्यष्टिपरक हों अथवा समष्टिपरक, चाहे प्राकृतिक सौन्दर्य की हों अथवा मानवीय सौन्दर्य की सभी अपने शुद्धतम रूप में यथावत् अभिव्यक्ति पाते हैं।

त्रिलोचन की कविताएं वायवीयता और काल्पनिकता से अपनी दूरी बनाने में जिस प्रकार क्षम हुई हैं उसका मूल कारण उनका यथार्थ से सच्चा अनुराग ही है। विशुद्ध भावनाओं को उत्कृष्ट भावमयता प्रदान करना ही उनका काव्य लक्ष्य रहा है। अपनी प्रगतिशील चेतना को भी वे यथार्थ से ही सिक्त करते हैं। जन सामान्य से अपना अटूट सम्बन्ध बनाते हैं उसके सुख–दुख, हर्ष–विशाद, श्रम–संघर्ष को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान

करते हैं, उसके कर्म कौशल तथा श्रमशीलता को पूरा सम्मान प्रदान करते हैं। पूँजीपतियों के शोषण मूलक दमन चक्र का प्रबल प्रतिरोध करते हैं। सुप्त जन मानस को जागृति प्रदान कर उसे क्रान्ति के लिए, बदलाव के लिए तैयार करते हैं। अपने सम्पूर्ण रचना संसार में नारियों को यथेष्ट सम्मान एवं स्वाभिमान प्रदान करते हैं। उनका प्रेम दिवा स्वप्न की रंगीनियों से नहीं अपितु उद्यमशीलता से जोड़ता है और मानवीय मूल्यों के प्रति सजग बनाता है। मानवों में ही मानवीयता न हो यह उन्हें सह्य नहीं है। उनका काव्य प्रगतिशीलता के नए प्रतिमान स्थापित करता है। वे दीन हीन छवि क्षीण जनों में ईश्वर का साक्षात्कार कराते हैं भिक्षुक तक को शाही स्वर प्रदान करते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि त्रिलोचन की यथार्थवादी प्रगतिशील चेतना जन सामान्य के सुखार्थ एवं रक्षणार्थ एक व्यापक विस्तीर्ण भूमि का सृजन करती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. दिगन्त – त्रिलोचन, पृ. 17
2. दिगन्त – त्रिलोचन, पृ. 16
3. काव्य एवं अर्थबोध – त्रिलोचन, पृ. 17
4. दिगन्त – त्रिलोचन, पृ. 64
5. त्रिलोचन संचयिता – सं. ध्रुव षुक्ल, पृ .214
6. गुलाब और बुलबुल – त्रिलोचन, पृ. 39
7. गुलाब और बुलबुल – त्रिलोचन, पृ. 115
8. गुलाब और बुलबुल – त्रिलोचन, पृ. 109
9. शब्द – त्रिलोचन, पृ. 55
10. शब्द – त्रिलोचन, पृ. 37
11. गुलाब और बुलबुल – त्रिलोचन, पृ. 115
12. अरघान – त्रिलोचन, पृ. 76

भारत में राजनीतिक दल

संतोष कुमार उपाध्याय

शोध छात्र
राजनीति विज्ञान
महारानी लक्ष्मीबाई शासकीय उत्कृष्ट महाविद्यालय
ग्वालियर, (म0 प्र0)

वर्तमान समय में शासन के विविध रूपों में प्रजातंत्र सर्वाधिक लोकप्रिय है और प्रजातन्त्रीय शासन दो प्रकार के होते है। 1. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र 2. अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधित्यात्मक प्रजातंत्र। राज्यों की अधिक जनसंख्या और क्षेत्र की विशालता के कारण वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी राज्यो में प्रतिनिधित्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था ही प्रचलित है। इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कार्य किया जाता है। जनता द्वारा अपने–अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन और प्रतिनिधियों द्वारा शासन व्यवस्था के संचालन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था लोकमत पर आधारित होती है और राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन होते है। साधारणतया एक देश के विधान या कानून के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का उल्लेख नही होता है किन्तु व्यवहार में राजनीतिक दलों का अस्तित्व भी उतना ही आवश्यक और उपयोगी होता है जितना कि विधान या कानून। प्रजातन्त्रीय शासन के अन्तर्गत केवल शासक दल का ही नहीं वरन् विरोधी दल का भी महत्व होता है। बर्क के शब्दों में कहा जा सकता है कि ''दलीय प्रणाली चाहे पूर्ण रूप से भले के लिए हो या बुरे के लिए, प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिएअपरिहार्य है।'' मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि ''बिना दलीय संगठन के किसी कार्य सिद्धान्त का एक होकर प्रशासन नही हो सकता, किसी भी नीति का क्रमबद्ध विकास नही हो सकता, संसदीय चुनावों की वैधानिक व्यवस्था नही हो सकती और न ऐसी मान्य संस्थाओं की व्यवस्था ही हो सकती है। जिसके द्वारा कोई भी दलशक्ति प्राप्त करता और स्थिर रखता है।'' इसी प्रकार ब्राइस ने लिखा है कि –

''राजनीतिक दल अनिवार्य है और कोई भी बड़ा स्वतन्त्र देश उनके बिना नही रह सकता है। किसी व्यक्ति ने यह नही बताया कि प्रजातन्त्र उनके बिना कैसे चल सकता हैं। ये मतदाताओं के समूह की अराजकता में से व्यवस्था उत्पन्न करते है। यदि दल कुछ बुराईयां उत्पन्न करते है तो वे दुसरी बुराईयों को दूर या कम भी करते है।''

लीकांक के अनुसार,–''प्रजातन्त्रीय सरकार के सिद्धान्त के साथ इसका विरोध होने के स्थान पर यही एक ऐसी चीज है जो प्रजातन्त्रीय सरकार को व्यवहारिक बनाती है। क्योंकि अकेले रहकर व्यक्तियों के लिए शासन करना कठिन है। आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य इस

कृत्रिम तथापि आवश्यक यन्त्र के बिना व्यक्तिगत मतों का समूह मात्र बनकर रह जाएगा।'' मानव एक विवेकशील प्राणी है और मानव की इस विवेकशीलता के कारण एक ही प्रकार की समस्याओं के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से विचार किया जाता है। विचार की इस भिन्नता के साथ ही साथ अनेक व्यक्तियों में आधारभूत बातों के सम्बन्ध में विचारों की साम्यता भी पायी जाती है।[1] वर्तमान परिवेश में राजनीतिक दल एक शक्ति संरचना और राजनीतिक व्यवस्था की एक आधार भूतव्यवस्था बन गये है अनेक लोकतान्त्रिक देशों में दलीय प्रणाली के स्वरूप में विभिन्नता उन देशों के राजनीतिक इतिहास, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों की देन है। नार्मन का कहना है कि जापान, फिलीपिन्स और इजराइल को छोड़कर एशिया के किसी भी देश में पश्चिमी तरीके से सुसंगत तथा प्रभावशाली लोकतंत्र दल प्रणालीका विकास नहीं हुआ।[2] मैकाइवर के अनुसार– ''जिस राज्य में दलीय प्रणाली नही होती तो वहाँ क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एक मात्र तरीका होता है।'' हरमन फाइनर ने कहां कि दलों के बिना मतदाता ऐसी असम्भव नीतियों का अनुसरण करने लगेगे जो उन्हें शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी और जिससे राजनीतिकयन्त्र ध्वस्त हो जायेगा।

हरमन फाइनर के अनुसार राजनीतिक दल दूरी को पाटने का कार्य भी कहते है। क्योंकि राष्ट्र के भौगोलिक क्षेत्र और निर्वाचन क्षेत्र इतने व्यापक और विस्तृत होते है कि निर्वाचक को एक दूसरे के निकट लाना आवश्यक है और राजनीतिक दल इस प्रकार के मध्यस्थ की भूमिका सुचारू रूप से निभा सकते है। इस प्रकार समाज की विविधता को संगठित कर राजनीतिक क्रिया को और उसे उन्मुख करने वाले साधन के रूप में राजनीतिक दल की भूमि को देखा जा सकता है। विचारों की समानता रखने वाली में व्यक्ति अपनी सामान्य विचारधारा के आधार पर शासन शक्ति प्राप्त करने और अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील रहते है और इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उनके द्वारा जिन संगठनो का निर्णय किया जाता है, उन्हें ही राजनीतिक दल कहा जाता है। एडमण्ड वर्क के अनुसार– ''राजनीतिक दल ऐसे लोगों का एक समूह होता है जो किसी ऐसे सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वे एकमत हो, अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधे होते है।''

वोटल के अनुसार, ''राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य अपने मतदान बल के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण करना व अपनी सामान्य नीतियों को क्रियान्वित करना होता है।'' गिलक्राइट के शब्दों में, ''राजनीतिक दल की परिभाषा उन नागरिकों के संगठित समूह के रूप में की जा सकती है जो राजनीतिक रूप से एक विचार के हो और जो एक राजनीतिक ईकाई के रूप में कार्य कर सरकार पर नियन्त्रण करना चाहते हो।''

मैकाइवर के शब्दों में, ''राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो किसी ऐसे सिद्धान्त अथवा ऐसी नीति के समर्थन के लिए संगठित हुआ हो, जिसे वह वैधानिक साधनो से सरकार का आधार बनाना चाहता हो।'' राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिसके सदस्य सामान्य सिद्धान्तों पर सहमत हो और सामूहिक प्रयत्नों या राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करने

के लिए एकता के सूत्र में बंधे हो।[3] यह संगठित स्वायत्त समूह सरकार की नीतियों एवं कर्मचारियों पर अन्ततः नियन्त्रण प्राप्त करने की आशा में चुनावी उम्मीदवारों का नामांकन करते और चुनाव लड़ते है।[4] प्रजातंत्र के प्रतिनिधित्यात्मक शासन प्रणाली में तो दलों का होना आवश्यक है और संसदात्मक देश के प्रजातंत्र में तो उनकी आवश्यकता कही अत्यधिक महत्वपूर्ण वास्तव में राजनीतिक दल व्यवस्था किसी प्रजातन्त्रात्मक देशमें रक्त प्रवाह का कार्य करते है। इसलिए प्रजातंत्र में राजनीतिक दलों का होना अत्यन्त आवश्यक है संसदात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इसलिए यहॉ पर इसकी आवश्यकता और अधिक बढ़ जाती है। ब्रिटेन और अमेरिका में प्रमुख रूप से दो, ही दल रहे है। क्योंकि प्रायः इन्हीं दलों की ही सरकार बनती रही है। यहां की राजनीतिक समीकरण इन्हीं दोनों के इर्द गिर्द ही घुमता है फ्रांस में पंचम गणतंत्र के पहले चार गणतन्त्र अस्तित्व में आया और समाप्त भी हो गया इसका कारण यहाँ के 10 से 15 तक के राजनीतिक दल ही रहे है। अतः 1958 में जनरल डी गाल के अथक परिश्रम से पांचवा गणतंत्र स्थापित हुआ। दुनिया के अन्य देशों में भी जहाँ पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली विद्यमान है वहां पर छोटे–छोटे दल अस्तित्व में आते रहते है। मैरिस डुवरजर ने जोरदार समर्थन करते हुए कहाँ है कि बहुदलीय पद्धति और आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है।

भारतीय राजनीति में पहला बड़ा परिवर्तन 1967 के आम चुनाव में हुआ यही से देश के संविधान में बहुदलीय व्यवस्था का प्रतिमान विद्यमान एवं परिलक्षित होने लगा। यह कांग्रेस पार्टी के राजनीतिक एकाधिकार का सूरज अस्ताचल की तरफ और क्षेत्रीय दलों के उदय का नया सबेरा ले करके आ रहा था। यही कारण है कि देश के सभी क्षेत्रीय दलों को किसी न किसी राज्य में मिश्रित शासन के मंत्रीमण्डल में एक नवीन अवसर प्राप्त हुआ। केन्द्रीय सरकार को डी0एम0के0 एवं मुस्लिम लीग, पीजेण्ट एण्ड वर्कस पार्टी की सहायता से सरकार बनी। देश के विभिन्न राज्यों में दल–बदल भी प्रारम्भ हुए एवं मंत्रीमण्डलो का विघटन भी होने लगा जिसके कारण क्षेत्रीय दलों का राजनीति में वर्चस्व स्थापित होने लगा। हमारा देश विविधताओ से भरा राष्ट्र है। यहाँ अनेकता में भी एकता विद्यमान है। विशाल देश होने के कारण अनेक धर्म, जाति, रीति–रिवाज, परम्पराए, प्रथाएं एवं सामाजिक सांस्कृतिक विरासत पायी जाती है। ऐसे देश में जब लोकतंत्र स्थापित होता है तो निश्चित रूप के लिए क्षेत्रीय दलों का गठन होता है। जिसके द्वारा समस्त नागरिको की अभिव्यक्ति एवं क्षेत्रीय समस्या का समाधान, विकास आदि के लिए लगातार सम्पर्क स्थापित करते रहते है। इन दलों का यही क्षेत्रीय संपर्क जमीनी हकीकत से जोड़ता है। जिसका लाभ प्राप्त होना लाजमी है। इसी के कारण क्षेत्रीय दलों का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता गया और राष्ट्रीय दलों ने इसके लिए अवसर भी प्रदान किए है। हमारे देश का सबसे प्रमुख दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस था लेकिन इसके साथ ही साथ कई दलों ने राष्ट्रीय दलके स्वरूप को प्राप्त किया। इस स्वरूप को यदि नुकसान हुआ तो उसका कारण यही दल ही रहे है। क्योंकि उन्होंने अपने राज्य स्तरीय इकाइयों को समुचित स्थान व महत्व प्रदान नही किया।

सर्वप्रथम 1952 से 1967 तक एकक्षत्र राज्य कांग्रेस पार्टी ने किया। इसकी कमजोरी स्वतंत्रता से लेकर आज तक स्पष्ट रूप से पलिक्षित हुई लगातार सत्तारूढ़ होने के बावजूद देश और राज्यों के हितों की उपेक्षा की। यहाँ तक कि राज्यों को स्वायत्ता प्रदान करने के बजाय पार्टी की ईकाई के रूप में क्षेत्रीय समस्याओं को देखा और पर्याप्त अवसर प्रदान नहीं किया। संघात्मक शासन व्यवस्था होने के बावजूद अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य समिति ने किसी विकेन्द्रीकृत लोकताात्रिक ढांचे का प्रतिपादन नही कर सकी जिसके कारण केन्द्र एवं राज्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना कठिन होता गया। यह भी एक महत्वपूर्ण कारण था जिसका भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय व अन्य दलों को अवसर प्राप्त हुआ जिसका लाभ देश के विभिन्न राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारे स्थापित हुई और साथ ही साथ 2014 के लोक सभा के आम चुनाव में तो पूरा राजनीतिक इतिहास ही बदल कर रख दिया। पहली बार कांग्रेस को मात्र 44 सीटों से सन्तोष करना पड़ा और केन्द्र में किसी गठबन्धन के बिना पूर्ण बहुमत से भी अधिक 282 सीटों के साथ गैर कांग्रेसवादी भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी। यह राष्ट्रीय राजनीति का पहला चुनाव था जिसमे भारतीय जनता पार्टी इतने बड़े आकड़े से सरकार बनाई। जो काम भारत रत्न पं.अटल बिहारी बाजपेई के नेतृत्व में नहीं हो सका वह कार्य नरेन्द मोदी के नेतृत्व ने कर दिखाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास अब दिनों दिन सिमटता जा रहा है। स्वतंत्रता आन्दोलन में विशिष्ट भूमिका निभाने वाले कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं की मृत्यु हो गयी वे अब देश में नहीं रहे, कुछ ने दल छोड़ दिया जो कुछ आज कांग्रेस में बचे हुए है वे केन्द्रीय नेताओं के साथ सार्थक एवं सकरात्मक समीकरण स्थापित नही कर पा रहे है। जिसके परिणामस्वरूप क्षोभ व असन्तोष का वातावरण इस पार्टी में व्याप्त हो गया। अब तो वर्तमान स्थिति में उत्तरदायित्व की कमी, नैतिकता भ्रष्टाचार आदि इस पार्टी के लिए गले की हड्डी बन गये है। जिसके कारण जनता में कांग्रेस के प्रति असन्तोष एवं असहमति दिनोदिन बढ़ने लगी। इसी के साथ–साथ पार्टी के नेताओं में अनेक प्रकार की राजनीतिक समस्याएं जैसे केन्द्रीय नेताओं द्वारा चुनावी टिकटो का बंटवारा, मन्त्रीमण्डल में एक ही व्यक्ति का बार–बार चयन, नये व अच्छे लोगो के लिए अवसर की कमी, मुख्यमंत्री का कमी, मुख्यमंत्री का चयन एवं तमाम राष्ट्रीय स्तर से लेकर स्थानीय स्तर तक योजनाओं के कार्यान्वय में समन्वय की कमी आदि व्यवहार अलोकतांत्रिक होने के कारण लगातार क्षेत्रीय व स्थानीय नेताओं को प्रतिनिधित्व की तलाश थी, क्योंकि इनकी भावनाओं की उपेक्षा होती रही ऐसे में ही क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ। प्रो0 वी0 के0 आर0 बी0 राय लिखते है ''भारत में

वर्तमान परिवेश में राजनीतिक दल एक शक्ति संरचना और राजनीतिक व्यवस्था की एक आधार भूतव्यवस्था बन गये है अनेक लोकतान्त्रिक देशों में दलीय प्रणाली के स्वरूप में विभिन्नता उन देशों के राजनीतिक इतिहास, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों की देन है। नार्मन का कहना है कि जापान, फिलीपिन्स और इजराइल को छोड़कर एशिया के किसी भी देश में पश्चिमी तरीके से सुसंगत तथा प्रभावशाली लोकतंत्र दल प्रणाली का विकास नहीं हुआ।

हमारे सामने राष्ट्रीय और भावात्मक एकीकरण की समस्या है जिसे अधिकांश लोग स्वीकार कर चुके है,परन्तु इसका निदान क्या किया जाना– चाहिए? इसे कौन करे और कैसे ? यह ऐसे प्रश्न है जिन पर बहुत चर्चा हो चुकी है किन्तु अब तक कोई निश्चित उत्तर नही मिल सका है और न ही ऐसी कोई विस्तृत एवं रचनात्मक नीति ही बन सकी है जो क्रियान्वित की जा सके।'

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. सिंह न्यूमैन, सिगमण्ड, मार्डन पोलिटिकल पार्टी, शिकागो, यूनीवरसिटी आफ शिकागो, प्रेस 1956
2. पामर, नारमन डी, द इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम, एलेन जार्ज एण्ड आलविन, लन्दन 1965 पृ 182
3. न्यूमैन, सिगमण्ड, मार्डन पोलिटिकल पार्टी, शिकागो, यूनीवरसिटी आफ शिकागो, प्रेस 1956
4. पामर, नारमन डी, द इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम, एलेन जार्ज एण्ड आलविन, लन्दन 1965 पृ 182

समकालीन काव्य में नवगीत की प्रासंगिकता

रूबी त्रिपाठी

कैलाशपुरी, गोविंदपुर,
इलाहाबाद, उ॰ प्र॰

नई कविता से सम्बद्ध कवियों की कुछ गीतिपरक रचनाएं इस बात का प्रमाण है कि यह नयेपन की मांग सीमित दायरे में न थी। 'नवगीत' और 'नई कविता' के विरोध की चर्चा प्रायः हुई है। वास्तविकता यह है कि राजेन्द्र प्रसाद सिंह, रवीन्द्र भ्रमर और रामदरश मिश्र जैसे 'नवगीत' के प्रमुख हस्ताक्षर 'नवगीत' को नई कविता की होड़ में खड़ा करने के पक्ष में कभी नहीं थे। केदार नाथ सिंह के इस कथन में सत्यांश है कि ऐतिहासिक विवेचन किया जाए तो पता चलेगा कि 'गीत' ने नई कविता की उपलब्धि से काफी लाभ उठाया।

'नवगीत' की अवधारणा बहुत पुरानी नहीं है। हालांकि 'नवगीत' का प्रारम्भ निराला से माना गया है–''लेकिन निराला का कृतित्व कई नवीन प्रवृत्तियों का समुच्चय और संकेतक है। इसीलिए वहां किसी एक प्रवृत्ति को परिपुष्ट रूप में ढूंढना ठीक नहीं होगा, कुछ व्यक्तिगत कारणों को और कुछ तत्कालीन यथार्थ के दबाव के कारण 'निराला' के गीत जो 'नवगीत' की सम्यक भूमिका प्रस्तुत करने वाले थे, दो धाराओं में विभक्त हो गये– एक तो विशुद्ध जनगीतों में जैसे काले–काले बादल आये, न आये वीर जवाहर लाल, जैसे गीतों में जो न केवल भाव वरन् छन्द की दृष्टि में भी शुद्ध जनगीत कहे जा सकते हैं और दूसरे 'अर्चना' और 'आराधना' के भक्ति गीतों में। इसका परिणाम यह हुआ कि विशुद्ध 'नवगीत' उनके साहित्य में कम है।

'नवगीत' का नामकरण नई कविता के वजन में हुआ लगता है। 'नवगीत' सन् 1956–58 तक अघोषित और अप्रचारित रहा। अधिकतर आलोचकों ने 'नवगीत' का जन्म छठे दशक में स्वीकार किया है। गीतांगिनी 1958 सम्पादक राजेन्द्र प्रसाद सिंह, 'लेखनी बेला (1958) वीरेन्द्र मिश्र, क्वार की सांझ (1958) रामनरेश पाठक, वंशी और मादल (1960) ठाकुर प्रसाद सिंह आदि कृतियों के प्रकाशन से 'नवगीत' विधिवत प्रमाणित हुआ है।

'नवगीत' संज्ञा को लेकर कई तरह की शंकाएं और असहमतियां जताई गई है। डा. रवीन्द्र भ्रमर, डा. शम्भूनाथ सिंह, बाल स्वरूप राही, रामनरेश पाठक, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, डॉ. जय प्रकाश आदि ने अपने लेखों में नवगीत की संज्ञा का प्रयोग किया है। लेकिन डा. कुंवरपाल सिंह जैसे आलोचक इसे 'नवगीत' न कहकर 'आधुनिक' या 'नयेगीत' कहना अच्छा मानते हैं–'इस पीढ़ी द्वारा रचित गीतों को आधुनिक व नये गीत कहना चाहूंगा, 'नवगीत' नहीं। यदि केदारनाथ सिंह ने इसे 'नवगीत' कहा है तो ठाकुर प्रसाद सिंह ने 'नयेगीत' का सम्बोधन दिया है। डा. पी. जय रामन के अनुसार गीत की नवीनता की बात ही व्यर्थ है। इनकी दृष्टि से नवगीत .....'भाव.....लय, रागलय आदि के अभाव में गीत परम्परा अपने को समन्वित करने में

असमर्थ पाने वाले नयेपन के आग्रही साहित्यकार की हीन भावना तथा ग्रन्थि को अभिव्यक्त करने वाली भ्रमित संज्ञा मात्र है।

'नवगीत' में शुरू से ही लोक–सम्पृक्ति का भाव निहित था। शुरू में यह लोक सम्पृक्ति ग्रामांचल के चित्रों और लोक धुनों में प्रयोग दिखाई देती है। आठवें नवें दशक में 'नवगीत' वैचारिकता के स्तर पर अधिक जनधर्मी और जनवादी होता गया है। कुछ रचनाकार 'जनगीत' को ही नवगीत का अगला चरण मानते हैं। कुछ आलोचकों ने 'नवगीत' में जनगीति की परिणति को उपहास की दृष्टि से देखा है। 'वस्तुतः जनगीत सस्ती लोकप्रियता पर चढ़ने की नसैनी बनकर रह गया है लोक विश्वास लोक की वस्तुओं तथा परम्पराओं में अपरिचित गीतकार जब जनगीत लिखता है, तब कई अन्तर्विरोधों का शिकार बन जाता है। दूसरे छायावादोत्तरकालीन गीतकारों ने जैसे गीत से हटकर लम्बी गीत कविता लिखना आरम्भ कर दिया था, इसी प्रकार जनवादी गीतकार भी करने लगे हैं। कथ्य की अन्विति और संकेत को छोड़ देने पर गीत की ऐसी दशा होती है।'' जिस दयनीय स्थिति की कल्पना डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने की है, स्तरीय नवगीतों में अनुपस्थिति है। 'भरी सड़क पर' (राजेन्द्र प्रसाद सिंह) 'खुल अलाव पकाई घाटी' (हरीश भादानी) 'हर सिंगार कोई तो हो' (माहेश्वर तिवारी) 'लिखेंगे इतिहास' (नचिकेता) और दरिया का पानी (रमेश रंजक) आदि संग्रहों से गीत एक ओर आम आदमी की पक्षधरता से लैस है तो दूसरी ओर जनविरोधी व्यवस्था के विरोध में खड़े हैं।

'नवगीत' के प्रारम्भ में सारे नवगीतकार अनुभूत जीवन–दृष्टि और अभिव्यक्ति के स्तर पर अलग नजर आते हैं। यदि उनमें कोई समानता है तो यही कि भाव और रूप की प्रचलित लीकों से हटकर स्वयं के अनुभव, सौन्दर्यबोध, के अनुसार जीवनसत्यों को ईमानदारी से व्यक्त करना चाहते हैं लेकिन आठवें नवें दशक के 'नवगीतों' को देखने पर कम से कम विचारों और अनुभूतियों के स्तर पर पर्याप्त एकरूपता दिखाई देती है। रमेश रंजक, माहेश्वर तिवारी, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, हरीश भादानी, रवीन्द्र भ्रमर, रामदरश मिश्र आदि प्रौढ़ नवगीतकारों की रचनाओं में जो जनपक्षधरता है वह कैलाश गौतम, नरेश सक्सेना, नचिकेता, उमाशंकर तिवारी और अश्वघोष आदि अपेक्षाकृत बाद के नवगीतकारों के गीतों में उपलब्ध है। इस तरह 'नवगीत', 'जनगीत' बनने की प्रकिया में है और यही समय की मांग भी है।

नई कविता के पक्षधरों का आरोप था कि 'नवगीत' सामयिक और सामूहिक दायित्व को वहन करने से कतराता है। यह आरोप कुछेक गीतों पर ही लागू हो सकता है। परिवेशगत यथार्थ के दबाव ने 'नवगीत' को ठोस और वास्तविक धरातल पर खड़ा कर दिया। इस सन्दर्भ में डा. श्यामसुन्दर घोष का कथन है– ''जब तक हम इस दबाव से वंचित रहे, हम एक मीठी दुनिया में सपनों की दुनिया में सोये हुए थे, गीतों की प्रकृति, प्रेम, रूमान और स्वप्न तक सीमित रखे रहे, लेकिन जब यथार्थ का करारा झटका लगा, मोह भंग हुआ तो त्रस्त और क्षुब्ध हुए। इस दशा में यथार्थ का बढ़ता हुआ प्रभाव वह जादू हो गया जो गीतों के सिर पर भी चढ़कर बोला।''

सातवें दशक के हिन्दी साहित्य में जनतान्त्रिक व्यवस्था के ऊपर अंगुली उठाने का क्रम शुरू हो चुका था। आजादी मिलने के लगभग दो दशक के बाद भी जनसाधारण की आकांक्षायें अपूर्ण रहीं और स्वप्न भंग हो गये। इसके फलस्वरूप एक देशव्यापी मोहभंग का अनुभव किया

गया। लोगों ने धूमिल की तरह यह अनुभव करना शुरू कर दिया कि न प्रजा है न तंत्र है, आदमी के खिलाफ खुला–सा षडयन्त्र है।

जनतांत्रिक व्यवस्था से निराश होकर नवगीतकार जनहितकारी व्यवस्था के हित में जान पड़ते हैं। वे जानते हैं कि ऐसी व्यवस्था की स्थापना सरल कार्य नहीं है। जन–शत्रु ऐसा आसानी से नहीं होने देंगे। फिर भी नवगीतकार को विश्वास है कि जनता जग रही है और अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने को तैयार हो रही है। रमेश रंजक के शब्दों में –

कागजी पक्के इरादे
चीड़ की झीने बुरादे की तरह झर जाएंगे।
जब किनारेदार लोहे की सतह पर आयेंगे

* * * * *

बोलने लग जायेंगी भाषा जुलूसों की
ध्वज कमीजों के वही फहराएंगे।

'नवगीत' में एक छायावादी भावबोध और शिल्प का निषेध था दूसरी ओर नई कविता की कथित महानगरी आधुनिकता के प्रति वितृष्णा का भाव भी था। यही कारण है कि प्रारम्भ में 'नवगीत' ग्रामीण अंचल के परिवेश से सम्बद्ध है उसकी भाषा उसी परिवेश से उठाई गई है। उषा कोठारी के अनुसार–''उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया उस भाषा पर ग्राम–सभा के माधुर्य और कोमलता के संस्कार दोनों रूपों में सामने आये– एक तो ग्राम भाषा की कोमल पदावली का प्रचुर भण्डार सामने था और नवगीतकारों पर ग्राम भाषा साहित्य के अध्ययन का गहरा संस्कार भी था। अतः जहां कहीं भी नवगीतकारों को आवश्यकता महसूस हुई, उन्होंने ग्राम–भाषा के शब्दों को ग्रहण कर लिया। दूसरे यह कि गीतकार स्वयं भी ग्रामीण अंचल से आये थे और अपनी लोकभाषाओं के संस्कार साथ लिये हुए थे। कविता 64 में प्रकाशित रमेश कुन्तल मेघ की एक टिप्पणी के अनुसार 'नवगीत' लोक संस्कृति और जनभाषा के बहते हुए नीर से नागर भाषा को निखार देने अर्थात् एक विकासशील शैली की अभिव्यंजना क्षमता का उत्खनन कर डालने में सक्षम सिद्ध हुआ। यही कारण है कि नवगीत में सांकरी अखियन, पछुआ टिकोरे, हरियल, महलिया, कजरारे, पिछवारे और दियरा आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

'नवगीत' के प्रारम्भ में सारे नवगीतकार अनुभूत जीवन–दृष्टि और अभिव्यक्ति के स्तर पर अलग नजर आते हैं। यदि उनमें कोई समानता है तो यही कि भाव और रूप की प्रचलित लीकों से हटकर स्वयं के अनुभव, सौन्दर्यबोध, के अनुसार जीवनसत्यों को ईमानदारी से व्यक्त करना चाहते हैं लेकिन आठवें नवें दशक के 'नवगीतों' को देखने पर कम से कम विचारों और अनुभूतियों के स्तर पर पर्याप्त एकरूपता दिखाई देती है। रमेश रंजक, माहेश्वर तिवारी, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, हरीश भादानी, रवीन्द्र भ्रमर, रामदरश मिश्र आदि प्रौढ़ नवगीतकारों की रचनाओं में जो जनपक्षधरता है वह कैलाश गौतम, नरेश सक्सेना, नचिकेता, उमाशंकर तिवारी और अश्वघोष आदि अपेक्षाकृत बाद के नवगीतकारों के गीतों में उपलब्ध है।

सच तो यह कि नवगीतों ने संस्कृति, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, लोकसाहित्य, क्लासिक रोम, सपाट बयानी, पत्रकारिता, वक्तव्य, बयान, गुफ्तगू, छेड़छाड़ आदि को इस प्रकार

समेटा है कि गिरवी घर आंगन और बिके आसमान की चर्चा है, तो कही पियरी ओढ़े धूप सो रही, साटन ओढ़े–छांव,जल दर्पण में हंसे दुपहरी दिये महावर पांव (हीरामणि सिंह) कहीं सीढ़ीदार ओढ़े धारियां। डा. सुरेश सिर उठाये रेत के टीले, तो कहीं 'पूरी चमरौटी का केवल एक कुआं है, कन्धे बदले, वही जुआ है। (सुधांशु उपाध्याय), कहीं वंशी है गूंगों के पास। दर्पण है अन्धों के हाथ। लुट जाये जाने कब कौन। रहबर का दहजन के साथ (श्री कृष्ण तिवारी) कही फुटी बटुली, टूटा चूल्हा, ऋण की पाग लपेटे दूल्हा या उंगली थकी बीनती गेहूं। सुपली पटक हथेली। मजदूरिन बन गई निवाला भूखे पेट हवेली (श्याम सुन्दर दूबे)। सच तो यह है कि नवगीत ने जीवन के हर कोने अतरे को बार–बार आंखों से देखा है, देश के चप्पे–चप्पे को उसने नापा है, पारखी निगाहों से जांचा, परखा है, पीड़ितों , दलितों, उपेक्षित को स्नेह संवेदना सहानुभूति दी है, लंगड़ों के लिए उसके शब्द वैशाखी बने है, अंधों के लिए तेज सर्च लाइट, उसने झुकी कमर को टेक दी है, झुकते स्वर को स्वाभिमान दिया है, जीवन की हर घिनौना चीज में हमें रू–ब–रू कराया है।

अन्त में एक और उल्लेख, नवगीतकार गीत गाथायें भी लिख सकता है–एक ऐसा गीत काव्य रूप जिसमें आज का जीवन रूपायित हो। ऐसे प्रयास प्रारम्भ हो चुके हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि पृ. 106
2. साहित्यिक निबन्ध, डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ, पृ. 268
3. हिन्दी कविता आधुनिक आयाम, राम दरश मिश्र, पृ. 152
4. नव लेखन : समस्यायें और सन्दर्भ, पृ. 21–22
5. रमेश रंजक के लोकगीत, पृ. 5
6. रश्मि नवगीत अंक, पृ. 56–57
7. धर्मयुग 15 अगस्त :1982 पृ. 30

प्राचीन भारत में शिक्षक एवम् शिष्य सम्बन्ध

डॉ. पंकज श्रीवास्तव

सह आचार्य
जे0पी0एस0 महाविद्यालय,
इलाहाबाद

प्राचीन काल में शिक्षक अपने शिष्य के लिए पूर्ण ज्ञानी और विद्वान होता था। वह शिष्य को मुक्ति का दिग्दर्शन कराने वाला सुज्ञानी होता था।[1] वाक्चातुर्य भाषण–पटुता प्रत्युत्पन्न मतित्व, तार्किकता और रोचक कथाओं में दक्ष तथा ग्रन्थों का अर्थ करने में वह आसु पण्डित और वक्ता होता था।[2]

शिक्षक की योग्यता उसके स्वाध्याय और प्रवचन में निहित थी किन्तु इसके साथ–साथ उसमें अनुशासन, सत्याचरण, सत्यभाषण, कष्ट सहिष्णुता, संयक और चित्त की एकाग्रता का होना भी अनिवार्य था। उसका रहन–सहन गरिमामय हो तथा वर्षा एवं शरद ऋतुओं में वह स्त्री से अलग ब्रह्मचारी के रूप में रहता था। वह चारपाई पर अथवा लेटे–लेटे अध्ययन नहीं करता था। इसके अतिरिक्त वह माला या अनुलेपन से भी अपने शरीर का अलंकरण नहीं करता था। वह मध्य रात्रि के पश्चात नहीं सोता था और उसी समय अपने शिष्य को निर्देश देता था तथा स्वयं स्वाध्याय में लीन हो जाता था। शिक्षक अपने पुत्र और अन्तेवासी को एक ही कोटि में रखता था।[3] कालान्तर में कभी–कभी गुरू अपनी पुत्रियों के लिए अपने शिष्यों में से योग्य शिष्य को पति चुन लेते थे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण जातको से भी मिलते हैं। गुरू–शिष्य के सम्बन्ध को लेकर पाणिनि का यह कथन उपयुक्त है कि दोनों एक दूसरे की परस्पर छाते के समान रक्षा करते थे।[4]

वैदिक युग में भी शिष्यों को उनकी रूचि के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाती थी और उनके व्यवसाय का निर्धारण किया जाता था। शिक्षक उसके अध्ययन की अभिरूचि और उसकी वृत्ति का निरीक्षण करता था और संतुष्ट होने के पश्चात् उसे शिष्य परम्परा में गृहीत करता था।[5] ऐसे शिष्यों को अपने गुरूकुल में स्थान देने के पहले सर्वप्रथम शिक्षक उसके आचरण और शील के विषय में निरीक्षण करके आश्वस्त होता था तत्पश्चात् उसे उपनयन विधि के अनुसार बह्मचारी बनाकर गुरूकुल में ग्रहीत करता था।

मनु के अनुसार, 'आचार्य–पुत्र, सेवा करने वाला, अन्य विषय की शिक्षा देने वाला, धर्मात्मा पवित्र, बांधव, ज्ञान के ग्रहण धारण में समर्थ, धन प्रदान करने वाला हिताभिलाषी और स्वजातीय, इन दस विशेषताओं से युक्त छात्र गुरू द्वारा धर्मानुसार पढ़ाने योग्य थे। सदाचारी प्रतिभावान और सुयोग्य शिष्य को चुनना गुरू की कुशलता का द्योतक था।[6] यह गुरू की विशेष कुशलता होती थी जब वह मन्दबुद्धि छात्र के मस्तिष्क में ज्ञान का मंत्र फूंक सकने में समर्थ होता था।[7]

शिष्य अपने गुरू का सर्वदा सम्मान और आदर करता था। ब्रह्मचर्य का पालन करता उसका परम कर्तव्य था इसका पालन करने वाले में ही तेजोमय ब्रह्म और देवता अधिवास करते थे।[8] समिधा, मेखला, मृगचर्म आदि धारण करते हुए ब्रह्मचारी अपने व्रतों का पालन करता था। वह लम्बे बाल रखता था तथा भ्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था।[9] शिष्य आचार्य कुल में रहते हुए वह आचार्य के लिए भिक्षाटन करता था। आचार्य के लिए गो सेवा करता था।[10] जब वह आचार्य का गोचारण करता था तब वह स्वच्छ वायु और सुन्दर प्रकृति में भ्रमण करके वातातपिक जीवन जीता था।[11] वह गुरू की निन्दा नहीं करता था ने सुनता था, साथ ही अपने तप से आचार्य को तृप्त करता था।[12] गुरू की त्रुटियों को शिष्य अत्यन्त विनयपूर्वक एकान्त में उसे बताता था।[13] वैसे शिष्य के लिए यह स्वतन्त्रता थी कि वह धर्मच्युत गुरू की आज्ञा न माने।[14] इसके विपरीत अगर शिष्य कोई पाप करता था तो उसके लिए आचार्य ही उत्तरदायी होता था।[15]

निःशुल्क, सशुल्क एंव वैकल्पिक तीन प्रकार की ग्रह शिक्षा प्रणाली गुरूकुलों के अतिरिक्त गावों के गुरू गृहों में भी प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त राज्य परिवारों, या विशिष्ट परिवारों में अध्यापकों की नियुक्ति कर अध्यापन कराया जाता था। अध्यापन कार्य करने वाले अध्यापकों को तीन भागों में विभाजित किया गया था जो कमशः अपनी योग्यताओं के आधार पर आचार्य, उपाध्याय, और गुरू नाम से सम्बोधित होते थे । इसके अतिरिक्त कुलपति भी होते थे परन्तु इनकी संख्या अत्यल्प थी।

प्रायः शिष्य आचार्य को ब्रह्म की मूर्ति के समान मानता था।[16] इसी रूप में वह गुरू की सेवा करता था वह अपने गुरू के सुश्रूषा करना उसका प्रधान कर्तव्य था।[17] वह पूर्णरूपेण शिक्षक के कहने या न कहने पर अध्ययन की ओर प्रवृत्त होता था अथवा अन्य कार्य करता था तथा वह आचार्य के हित में सर्वदा यत्नशील रहता था।[18] वह दिन–रात गुरू की सेवा में ही रहता था।[19] परिणामस्वरूप उसे विद्या की प्राप्ति होती थी।[20] गुरू की शिष्य के प्रति सदा अभिन्नता रहती थी वह शिष्य के साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था।[21] कोई भी शिक्षक विद्या को छिपाता नहीं था, बल्कि वह उसे धरोहर समझता था।[22]

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. कठोपनिषद् 11.9, मुष्ठकोपनिषद्, 1.2.3।
2. महाभारत,5.33.33।
3. छांदोग्य उपनिषद्, 3.11.5.6, बृहदारण्यक उपनिषद्, 6.3.12।
4. अष्टाध्यायी, 4.4.62।
5. ऋग्वेद 10.71.9; 9.1112.1।
6. मालविकाग्निमित्रम्, पृष्ठ 19।
7. वहीं, 2.9।
8. अथर्ववेद, 11.5.84।
9. वहीं , 115.17, मत्स्य पुराण, 25.23।

10. छांदोग्य उपनिषद्, 4.3.5, 4.10.2, 4.4.5; शतपथ ब्राह्मण,3.6.2.15।
11. शतपथ ब्राह्मण, 11.5.4.5।
12. अथर्ववेद, 6.108.2, 133.3; मनुस्मृति, 2.192–201।
13. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.2.6.13।
14. गौतम धर्मसूत्र, 3.1.15।
15. अथर्ववेद, 11.3.15।
16. मत्स्य पुराण, 211–21।
17. महाभारत, 5.36.52।
18. मनुस्मृति, 2.191।
19. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृष्ठ 168।
20. मनुस्मृति, 2.218।
21. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.2.8।
22. कृत्यकलपतरू, ब्रह्मचारीकांड, पृष्ठ 240, 242।

नई भाषाएं अनुवाद उद्योग का विस्तार

डॉ0 अवधेश कुमार श्रीवास्तव

प्राचार्य
रघुवीर महाविद्यालय
थलोई, भिखारीपुर कलॉ जौनपुर

आज हिन्दी और अंग्रेजी के अलावाँ फ्रेंच जर्मन, इटैलियन व रूसी भाषा के अनुवादको की मांग सबसे ज्यादा है। इसके बाद जापानी, चीनी और कारीमाई भाषाएं आती हैं।

साल 1990 से ही अनुवाद ने कथा साहित्य की दुनिया से आगे निकलकर एक बाजार का रूप लेना शुरू कर दिया था। इंटरनेट ने भाषा की बाधाएं दूर करते हुए अंग्रेजी भाषा का एक छत्र दबदबा भी समाप्त किया। आज विश्व को हर एक भाषा के अनुवादकों की जरूरत है। अब इसे फुल टाइम पेशे के रूप में देखा जा सकता है।[1]

कम्युनिकेशन टेक्नॉलाजी के कारण अब हर बैठे अनुवाद का काम मिल जाता है। दुनिया के अधिकतर देशों में विभिन्न भाषाएं सिखाने के सरकारी और गैर सरकारी केन्द्र खुल रहे हैं। अनुवाद के महत्व को समझते हुए हमारे देश के जे॰ एन॰ यू॰, इग्नू जैसे शीर्ष संस्थान इसमें एम0 फिल0, पी0एच0डी0 भी करा रहे हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में जहां पहले से अनुवाद में डिप्लोमा और डिग्री स्तर पर कोर्स चल रहे हैं, वह भी अनुवाद में उच्च अध्ययन को महत्व दे रहा है।

नई भाषाएं सीखना हुआ आसान

विदेशी भाषाओं में अनुवाद सिखाने में अनेक शीर्ष शैक्षिक संस्थानों के अलावाँ www.livemocha.com और www.buzuu.com जैसी ऑनलाइन भाषा सिखाने वाली वेबसाइट भी लोकप्रिय हो रही है। भारत सरकार का नेशनल ट्रांसलेशन मिशन देश के साहित्यिक–सांस्कृतिक व व्यापारिक हितों को साधने के लिए बाकायदा क्षेत्रिय भाषाओं में अनुवाद का प्रशिक्षण दे रहा है।[2]

ऑनलाइन अनुवाद का कार्यक्षेत्र विश्व भर में फैला है। यहां वेबसाइट्स ऑनलाइन अनुवाद के बदले अच्छा भुगतान भी दे रही है। आज देशी विदेशी कई वेबसाइट्स हैं, जो सिर्फ अनुवादकों के लिए जॉब्स के बेहतर अवसर बताती हैं जैसे–

www.hbranslations.com(मिशिगन)
www.translatorsiowa.com (युक्रेन)
www.k-inkernational.com (ब्रिटेन)
www.multilingualvacancies.com
www.totaljobs.com[3]

आप अपनी रूचि के अनुसार शिक्षा व अन्य मंत्रालयों की वेबसाइट देख सकते हैं, जहां जूनियर और सीनियर स्तर पर अनुवादकों के लिए अवसर निकलते रहते हैं। विदेश मंत्रालय समय–समय पर रोजगार सामाचार पत्रों पर रिक्तियां निकालता है। यहां फुल टाइम पार्ट टाइम अनुवादकों के साथ बाहरी श्रोतों के जरिये अनुवाद का काम कराया जाता है। संसद, एम्बेसी, सेंट्रल ट्रांसलेशन व्यूरो में अनुवादकों की जरूरत है।[4]

भारतीय प्रकाशको के साथ–साथ ऑक्सफोर्ड, रेंडम हाउस, कैम्ब्रिज, पियरसन जैसे प्रकाशन भी अनेक भाषाओं में अनुवाद की हुई रचनाएं प्रकाशित कर रहे हैं। यहां अच्छे अनुवादकों की जरूरत रहती है। युनेस्को, यूनीसेफ, युएनओ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो में भी अनुवादको की मांग है। दिल्ली स्थित इंडियन नेशनल साइंटिफिक डॉक्युमेंटेशन सेंटर (आई एन एस डी ओ सी) में तकनीकी अनुवादकों के लिए कई अवसर है।[5]

हर दिन दो घन्टे सोशल मीडिया में जाया करने के बजाय अगर कुछ सीखने में लगाया जाय तो भविष्य उज्जवल होगा। चाहे कोई नई भाषा या नया कौशल ही सीख लिया जाय। अनुवादकों को कुछ खास बातो का घ्यान रखना चाहिए, जैसे–तकनीकी शब्दों को सीखना चाहिए। लेखन कौशल के साथ किन्ही दो भाषाओं की समझ होनी जरूरी है। भाषा की समझ विकसित करने के लिए उस भाषा का साहित्य पढना चाहिए। कम समय में सहज, सटीक अनुवाद करने का अभ्यास करना चाहिए।

अपने आस पास के क्षेत्र में ट्रांसलेशन एजेंसीज का पता लगाना चाहिए और उसके अनुरूप अपना रेज्यूम तैयार करना चाहिए। किसी ऐसे विषय या क्षेत्र में खुद को बेहतर बनाना चाहिए, जहां बेहतर अनुवादकों की कमी है। आप जिस भाषा के अनुवादक हैं उसमें होने वाले विकास से खुद को अवगत कराएं।

अगर आप एक अच्छे अनुवादक के रूप में खुद को स्थापित कर पाएं तो इंडियन नेशनल साइंटिफिक डॉक्यूमेंटेशन सेन्टर, दिल्ली में पंजीकृत हो सकते हैं[6]

आज विश्व को हर एक भाषा के अनुवादकों की जरूरत है। अब इसे फुल टाइम पेशे के रूप में देखा जा सकता है।कम्युनिकेशन टेक्नॉलाजी के कारण अब घर बैठे अनुवाद का काम मिल जाता है। दुनिया के अधिकतर देशों में विभिन्न भाषाएं सिखाने के सरकारी और गैर सरकारी केन्द्र खुल रहे हैं।

अनुवाद अब फुल टाइम कैरियर बन गया है। एफ डी आई का बढता दायरा और मल्टीनेशनल कम्पनियों की मौजूदगी ने अनुवाद उद्योग को पनपने के लिए अनुकूल माहौल दिया है। इधर तकनीक ने बाजार की जरूरतों के साथ मिलकर अनुवादकों के लिए नये विकल्प खोले हैं। आज अच्छे अनुवादकों के लिए हजारों मौके हैं। कुछ बेहतरीन वेबसाइट्स अनुवाद क्षमता बढाने में मददगार होती हैं, जैसे–

(1) www.unplugthetv.com/ हर विजिट पर यह वेबसाइट एक नया वीडियो दिखाती है। हर बार अलग–अलग वीडियो देखना, जानकारी और समझ में इजाफा करता है।

(2) www.skillshare.com/ यहां विशेषज्ञ द्वारा व्यवहारिक तरीके से चीजे बताई जाती हैं। जो कौशल में हमें सिखाते हैं उन्हें रोज की गतिविधियों में इस्तेमाल कर सकते हैं।

(3) www.uopeople.edu/ यहां से ग्रेजुएशन डिग्री स्तर तक कई कोर्सेज की पढाई मुफ्त में की जा सकती है।

(4) www.gohighbrow.com/ सब्स्क्राइब करने के बाद यह वेबसाइट हर दिन 5 मिनट के कोर्सेज इमेल करती है, जिन्हें जानना समझना आसान होता है।

(5) www.investopedia.com/ इस वेबसाइट्स के जरिये निवेश और फाइनेंस से जुड़े सवालों का डेटा साइंटिस्ट और फाइनेंशियल एक्सपर्ट से जान सकते हैं।

(6) www.brainpump.net/ यहां ऐसी जानकारियों से रूबरू होते हैं जो शायद ही सोशल मीडिया के जरिये पता चलती हो। यह व्यक्ति के रचनात्मक पक्ष को उभारने में मदद करता है।

(7)www.spreeder.com/ यह वेबसाइट हर चीज को तेजी से कैसे सीखे, बताती है। इसकी मदद से पढ़ने की गति बेहतर हो सकती है।

(8) www.hemingwayapp.com/ यह वेबसाइट लिखने के कौशल को बढ़ाने में मदद करती है।

(9) www.coursera.org/ इससे मुफ्त में घर बैठे बेहतरीन कोर्सेज कर सकते हैं।[7]

अपने सम्पर्कों से दुनियाँ में आगे बढ़े। ऐसे अनुभवी लोगों से खुद को जोड़े जो हमारी प्रेरणा बन सके। हमें आगे ले जाने में निर्णायक भूमिका निभा सकें।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
2. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
3. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
4. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
5. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
6. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
7. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
8. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017
9. ''हिन्दुस्तान'' वाराणसी, 13 अप्रैल 2017

योग दर्शन में निहित ईश्वर की अवधारणा

अमित सिंह

शोधच्छात्र
डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय
फैजाबाद
मो0नं0–8739009304
Mail ID-mr.amitsingh77@gmail.com

महर्षि पंतजलि के अन्तस् से अद्भूत 'योगदर्शन' विश्व साहित्य को उनकी अद्वितीय एवं अनुपम देन है। योग शब्द विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है। 'योग' शब्द संस्कृत भाषा में 'धातु' के रूप में विद्यमान है जिसका अर्थ है जोड़ना तथा अन्य अर्थ है समाधि। योग का अर्थ समाधि के रूप में प्रयुक्त किया जो उचित ही होगा, क्योंकि समाधि के माध्यम से ही आत्मा–परमात्मा से युक्त हो जाती है। पांतजल योगदर्शन में समाधि के माध्यम से साधक को चित्त व इन्द्रियों को वश में रखने का प्रयत्न ही योग कहलाता है। जिससे एक विशेष प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है, अर्थात् शरीर तथा चित्त की क्रिया का अभ्यास ही 'योग' है।

योगदर्शन के माध्यम से मुख्यतः व्यावहारिक मार्ग, ईश्वर का ध्यान करना परमावश्यक है। इस दर्शन में ईश्वरतत्त्व को महत्त्वपूर्ण माना है। ईश्वर मात्र ध्यान का विषय ही नहीं हैं, अपितु लक्ष्य प्राप्ति में बाधाओं को दूर करने में सहायक भी है। अतः ईश्वर एकमात्र प्रयोजन अपने भक्तों के कार्यों में सहायता करना है। ज्ञान और भक्ति की परम सीमा ईश्वर ही है। लगभग सभी भारतीय दर्शन तथा धर्मों में योगदर्शन में व्याप्त योगाभ्यास को महत्ता दी गई है। योग को एक सार्वभौम अभ्यास बताया गया है। अतः संसार सागर से पार होने की युक्ति ही योग है।

संसारोत्तरणे युक्तिर्योग शब्देन कथ्यते।[1]

ईश्वरवादी दर्शनों में योग का विशेष स्थान है। योगदर्शन सांख्य की तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करते हुए उनके पच्चीस तत्त्वों के साथ ईश्वर को अलग से छब्बीसवें तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। इसलिए सांख्य को निरीश्वर सांख्य और योग को सेश्वर सांख्य भी कहते हैं।[2] सांख्य के सैद्धान्तिक भाग पर आधारित योग के क्रिया प्रधान दर्शन के संबंध में कहा जाता है कि सांख्य एक ही दर्शन का तत्व मीमांसीय पक्ष है तो योग उसका व्यावहारिक पक्ष है।

योगदर्शन का मुख्य उद्देश्य है योगाभ्यास द्वारा विवेक ज्ञान प्राप्त कर कैवल्य या मोक्ष प्राप्त करना। अज्ञानता के कारण पुरुष चित्त की चंचल वृत्तियों के कारण विषय भ्रम में पड़कर अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाता और जीवन चक्र के बंधन में पड़कर क्लेशादि दुःखों का परोक्ष अनुभव करने लगता है। इन अवयवों को त्यागने के लिए चित्त की चंचल वृत्तियों का समाधि द्वारा पूर्ण निरोध आवश्यक है चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। योग को समाधि भी कहा जाता है और समाधि लाभ ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।[3]

योगः समाधि।[4]

योग अपने दर्शन के अनुरूप सांख्यदर्शन के प्रकृति पुरुषद्वैतवाद, सृष्टिप्रक्रिया, सत्कार्यवाद, त्रिगुणों का सिद्धान्त, कर्मवाद आदि तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए इनमें अपने मनोविज्ञान और अष्टांग मार्ग आदि नैतिक व व्यावहारिक पक्ष जोड़कर ईश्वर को भी कैवल्य लाभ में सहायक तत्त्व मानते हुए अपने दर्शन का विकास करता है।

योग के ईश्वर की कल्पना धर्म की कल्पना से भिन्न है। किसी भी धर्म में ईश्वर को सृष्टि का निर्माता, उसका नियंत्रक समझा जाता है। उसी की इच्छा से हमें सुख दुख मिलते है, इसलिए हमें ईश्वर की प्रार्थना, पूजा भजन आदि करना चाहिए, उसकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए। अन्त में यह सृष्टि ईश्वर में लीन हो जायेगी, ईश्वर ही इसका अन्तिम विधान है। भगवद्गीता में ईश्वर की यही कल्पना की गयी है। परन्तु योगशास्त्र के ईश्वर की कल्पना इससे बिल्कुल भिन्न है। योग में प्रत्येक पुरुष तथा प्रकृति नित्य है।

पंतजलि ने ईश्वर के लक्षण बताते हुए योगसूत्र में कहा है क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) कर्म विपाक और आशय अर्थात् कर्म संस्कार से रहित 'पुरुषविशेष' ही ईश्वर है। ईश्वर को पुरुष विशेष कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुष (आत्मा) और ईश्वर (पुरुष विशेष) दोनों ही अविद्यादि क्लेशों से रहित है। परन्तु अविवेक से पुरुष चित्त को अपने से अभिन्न मानता है अतः औपाधिक रूप से पुरुष क्लेशादि से युक्त हो जाता है। जबकि ईश्वर क्लेशादि से बिल्कुल ही रहित है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।[5]

ते चाविद्याऽऽदयो यद्यपि मनस्येव सन्ति कुत्रापि पुरुषे संसारिक व्यपदिश्यन्त इति।[6]

ईश्वर मुक्त पुरुष से भी भिन्न है क्योंकि मुक्त पुरुष इस अवस्था से पूर्व बंधन में थे, जिसका उच्छेद कर उन्होंने सदा सर्वदा के लिए कैवल्य लाभ कर लिया है या दूसरे प्रकार के मुक्त पुरुष वे होते हैं जो कुछ निश्चित अवधि के लिए कैवल्य सा अनुभव कर पुनः संसार चक्र में आ जाते हैं। जबकि ईश्वर सदा सर्वदा मुक्त है, वह न कभी बंधन में था और न होगा।

ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो भावी।[7]

ईश्वर इस अर्थ में भी 'पुरुष विशेष' है कि वह सभी योगियों की अपेक्षा सर्वाधिक ऐश्वर्य सम्पन्न होता है। अनुमानों के आधार पर देखा जाये तो ऐश्वर्य की भी निरतिशयता माना जाना चाहिए और वह ईश्वर में ही संभव है, अर्थात् मात्र ईश्वर ही निरतिशय ऐश्वर्य सम्पन्न है। वैसे विज्ञानभिक्षु भी कहते हैं कि ऐश्वर्य की पराकाष्ठा जहां होती है वही ईश्वर है।

ऐश्वर्येण यत्र काष्ठा प्राप्यते स ईश्वर इत्यर्थः।[8]

योग दर्शन में पुरुष बहुत्व की भांति ईश्वर को अनेक नहीं माना गया है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि एक ही पदार्थ के विषय में विभिन्न परिणाम की इच्छा करने वाले दो ईश्वरों के होने पर, पदार्थ के किसी एक की इच्छा के अनुरूप परिणत होने से दूसरे की इच्छापूर्ण न होने के कारण उसमें न्यूनता आ जाएगी। अतः ईश्वर को एक ही मानना चाहिए।

योगदर्शन के अनुसार ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है। **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्।**[9] तथा काल द्वारा परिच्छिन्न न होने से वे ज्ञानी महर्षियों के भी गुरु हैं। योगसूत्र में भी बताया गया है कि ईश्वर, ज्ञानी गुरुओं के भी गुरू हैं। श्रुति आदि ग्रंथों में ईश्वर को ओंकार के नाम से पुकारा गया है। अतः प्रणव या ओम ईश्वर का वाचक है।

योगदर्शन ईश्वर को करुणामय और भक्तवत्सल मानता है। ईश्वर करुणावश पुरुषों के कल्याणार्थ या कैवल्य लाभ हेतु तत्पर रहता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है। हालांकि ईश्वर नित्य तृप्त है तथापि वह प्राणियों पर अनुग्रह कर उन्हें कर्मानुसार फल देने तथा जीवों के प्रतिबन्धों को दूरकर धर्माधिष्ठान हेतु प्रेरित करने सृष्टि में प्रवृत्त होता है।[9]

ज्ञान और इच्छा आदि चित्त या बुद्धि के धर्म हैं। अतः निरतिशय ज्ञान और इच्छा से पूर्ण ईश्वर में भी चित्त होना चाहिए। इसे स्वीकारते हुए योग दर्शन पुरुष और ईश्वर के चित्त में यह अंतर मानता है कि पुरुष का चित्त त्रिगुणात्मक है लेकिन ईश्वर का चित्त सत्वगुण प्रधान है। इनमें एक और विशेषता यह है कि पुरुष एवं चित्त का संबंध अविद्या कृत हैं। किन्तु ईश्वर के चित्त का संकल्पवश महाप्रलय काल में लय और सृष्टि प्रक्रिया में संयोग हो जाता है जबकि विज्ञान भिक्षु के अनुसार ईश्वर के चित्त का कभी भी वियोग या लय नहीं होता। महाप्रलय में भी नहीं।

ईश्वरोपाधेर्ज्ञानलक्षणा वृत्तिः प्रलेयऽप्यस्ति।[10]

योगदर्शन का सत्ताशास्त्र के सम्बन्ध में भी द्वैतवादी दृष्टिकोण है। उनके अनुसार सृष्टि में मूल दो तत्त्व माने गये हैं उनमें एक तत्त्व चेतन है उसको आत्मा, जीव या पुरुष कहते हैं। दूसरा तत्त्व जड़ है। उसको प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त या अलिंग आदि नाम दिये गये हैं। इस द्वैत सिद्धान्त को सांख्य और योग दोनों दर्शन मानते हैं। इनके अनुसार प्रकृति तथा असंख्य पुरुष (जीव) नित्य हैं। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि बनी है। इन दो में किसी एक ही अकेले तत्त्व से सृष्टि संभव नहीं क्योंकि पुरुष चेतन है, परन्तु अपरिणामी अर्थात् परिवर्तन से रहित हैं, और प्रकृति जड़ है। दोनों के संयोग से ही सृष्टि होती है। सृष्टि–प्रक्रिया में योग का मत है कि प्रकृति का विकास दो समानांतर पद्धतियों में होता है जो महत् से प्रारम्भ होता है और एकपक्ष में अहंकार मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के रूप में विकसित होता है, तथा दूसरे पक्ष में देखा जाये तो पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं द्वारा पाँच महाभूतों में विकसित होता है।[11] द्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत योग की यह मान्यता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, कि प्रकृति एवं पुरुष का संयोग जिसके बिना सृष्टि बन नहीं सकती, वह वास्तविक न होकर काल्पनिक तथा अज्ञान पर आधारित है। यदि यह संयोग वास्तविक होता, तो वह भी प्रकृति एवं पुरुष के समान नित्य या सदैव विद्यमान होता। उसका कभी नाश ही नहीं होता। परन्तु वह वास्तविक न होने से, जब तक अज्ञान है, तभी तक विद्यमान रहता है, योग के अभ्यास से जब अज्ञान दूर हो जाता है तब उससे पुरुष एवं प्रकृति दोनों अपने–अपने स्वरूप में ही रह जाते है। इसको कैवल्य अर्थात् अकेलेपन की अवस्था कहते हैं। वह अवस्था प्राप्त होना, यही योग का अंतिम लक्ष्य है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।[12]

तद भावात् संयोगाभावो हानं, तद् दृशेः कैवल्यम्।[13]

प्रकृति तथा उससे निर्मित सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं। उनमें पंचभूतों से लेकर त्रयोदश इन्द्रियों सहित सभी तत्त्व 'दृश्य' (प्रकृति और उससे उत्पन्न सभी जड़ पदार्थ) के अन्तर्गत आते हैं। दृश्य जड़ होने से उसका अस्तित्त्व अपने लिए नहीं होता। वह द्रष्टा (पुरुष) के लिए विद्यमान है। द्रष्टा के भोग तथा अपवर्ग के लिए ही उसका अस्तित्त्व है। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रकृति पुरुष के लिए असंख्य भोग साधनों की सृष्टि में निरंतर प्रवृत्त रहती है। इसमें उसका अपना स्वार्थ कुछ नहीं होता। वह हमेशा पुरुष के लिए कार्य करती रहती है। असंख्य पुरुषों में से प्रत्येक का मोक्ष प्राप्त करा देना, यही प्रकृति के अस्तित्व तथा उसके सभी कार्यकलापों का अंतिम उद्देश्य है। जैसा कि सांख्य के 56वें कारिका में बताया गया–पुरुष की मुक्ति के कार्य को मानो अपना स्वार्थ जैसा मानते हुए प्रकृति महत्तत्त्व से लेकर पंचभूतों तक की सृष्टि करती रहती है–

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादि विशेषभूत पर्यन्तः।
प्रतिपुरुष विमोक्षार्थ स्वार्थ इवपरार्थ आरम्भः।।[14]

प्रकृति की इस सृष्टि की दो अवस्थाएं होती है उनको प्रसव और प्रति प्रसव कहते हैं। प्रसव की अवस्था में मूल प्रकृति से क्रमशः समूचा दृश्य जगत् आविर्भूत होता है। इसके अंत में उल्टे क्रम से वह तिरोभूत होता जाता है, जिसमें प्रत्येक वस्तु कारण में लीन हो जाती है और अंत में समूचा दृश्य जगत् अपने मूलकारण प्रकृति में लीन हो जाता है। प्रकृति किसी अन्य वस्तु में लीन होती। इसीलिए उसको अलिंग कहते है। इस प्रकार प्रसव एवं प्रतिप्रसव का चक्र निरंतर जारी रहता है। चेतन पुरुष के लिए इस प्रकार सदैव कार्यरत रहना यह प्रकृति का स्वभाव है। यह योग का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। पंतजलि ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार स्पष्ट किया है– द्रष्टा शुद्ध चेतन स्वरूप है प्रकृति के संयोग से उसमें ज्ञान की अनुभूति होती है। दृश्य उस द्रष्टा के ही लिए विद्यमान है अर्थात् दृश्य का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता।

दृष्टादृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।[15]

द्रष्टा की एक विशेषता यह है कि वह अपरिणामी तथा अप्रसवधर्मी है अर्थात् उसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्तन, विकास, बदलाव नहीं आता। सृष्टि के किसी भी क्रम में, वस्तुओं के निर्माण और विनाश में द्रष्टा का कोई भी संबंध नहीं रहता। इसलिए उसको साक्षी, केवल, मध्यस्थ, अकर्ता, उदासीन आदि शब्दों से कहा जाता हैं। त्रिगुणों से परे होने से उसको निर्गुण या गुणातीत कहते हैं। ऐसे असंख्य पुरुष या जीव सृष्टि में हैं। उनमे से प्रत्येक जीव नित्य और स्वतंत्र है। जीवों के दो प्रकार कहे जा सकते हैं। एक प्रकार के वे जीव आते हैं, जिनका प्रकृति के साथ संयोग होने से वे संसार में जन्म–मृत्यु के चक्र में फंसे हैं। उनको 'बद्ध' जीव कह सकते हैं। योग के अभ्यास से अविद्या का नाश होकर उससे निर्मित संयोग की कल्पना नष्ट होने से जीव संसार चक्र से 'मुक्त' हो जाते हैं। उनको दूसरा प्रकार मान सकते है। किसी एक जीव के मुक्त होने पर भी प्रकृति का कार्य अन्य जीवों की मुक्ति के लिए जारी रहता है। मुक्त जीवों को पतंजलि ने 'कृतार्थ' कहा है। इस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष के द्वैत पर यह संसार टिका हुआ है। ऐसा–योग की मान्यता है।

प्रकृति एवं पुरुष के द्वैत के साथ किसी अन्य तीसरे तत्त्व को मानने की वास्तव में कोई

संभावना नहीं है। यदि प्रकृति संसार की रचना में समर्थ है और यदि प्रत्येक पुरुष नित्य, शुद्ध और स्वतंत्र है, तो फिर ईश्वर के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता। सांख्य ने इसी दृष्टि को अपनाया है। सांख्य निरीश्वरवादी है। योग दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को है, पुरुष एवं प्रकृति के अलावा एक तीसरे तत्व के रूप में नहीं माना। ईश्वर असंख्य पुरुषों में एक 'पुरुष विशेष' है। उसकी विशेषता यह है कि अन्य पुरुष बद्ध या मुक्त हो सकते हैं। बद्ध अवस्था में उन पर क्लेश, कर्माशय, कर्मविपाक का प्रभाव होता है, परन्तु ईश्वर नित्य मुक्त है, विशुद्ध सत्वप्रधान है। उस पर उनका कभी कोई प्रभाव नहीं होता। यही उसकी विशेषता है जिससे ईश्वर को 'पुरुष विशेष' कहा जाता है।

योग के ईश्वर की कल्पना धर्म की कल्पना से भिन्न है। किसी भी धर्म में ईश्वर को सृष्टि का निर्माता, उसका नियंत्रक समझा जाता है। उसी की इच्छा से हमें सुख दुख मिलते है, इसलिए हमें ईश्वर की प्रार्थना, पूजा भजन आदि करना चाहिए, उसकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए। अन्त में यह सृष्टि ईश्वर में लीन हो जायेगी, ईश्वर ही इसका अन्तिम विधान है। भगवद्गीता में ईश्वर की यही कल्पना की गयी है। परन्तु योगशास्त्र के ईश्वर की कल्पना इससे बिल्कुल भिन्न है। योग में प्रत्येक पुरुष तथा प्रकृति नित्य है। उनका ईश्वर में लीन होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः योग में ईश्वर को सृष्टि की रचना, उसका संचालन अथवा उसको अंतिम आश्रय देने का कोई काम नहीं दिया गया।

सूत्रकार एवं भाष्यकार व्यास ने मात्र योग के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक साधनों के रूप में ही ईश्वर का उल्लेख किया है। यद्यपि सूत्रकार तथा भाष्यकार ने सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर की आवश्यकता का वर्णन नहीं किया है तथापि परवर्ती व्याख्याकारों वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञान भिक्षु आदि ने सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर को निमित्तकारण के रूप में स्वीकार किया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्राणी का जो जात्यन्तर परिणाम अर्थात् एक शरीर को त्याग कर अन्य शरीर प्राप्त करना है, उसमें कारण रूप प्रकृति के धर्मादि तो मात्र निमित्त ही है, प्रयोजक नहीं क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारण का प्रवर्तक नहीं हो सकता। प्रवर्तक एक स्वतंत्र व्यक्ति होता है यथा घट बनाते समय मिट्टी, दण्ड चक्र आदि से स्वतंत्र कुम्हार। यहाँ पर वह स्वतंत्र व्यक्ति ईश्वर ही है जो कि जीव के प्रतिबंधों को दूर कर धर्माधिष्ठान के लिए प्रेरित करता है। ईश्वर द्वारा संसार की सृष्टि किए जाने का कारण देते हुए वे लिखते हैं 'यद्यपि वह नित्य तृप्त है, तथापि प्राणियों पर अनुग्रह हेतु वह ऐसा करता है उसको सुख–दुःख से परिपूर्ण संसार की सृष्टि करने के द्वारा अकारूणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि जिन प्राणियों ने भोग एवं मोक्ष रूप चित्त के अधिकार को समाप्त कर कैवल्य लाभ नहीं कर लिया है उनके पुण्य एवं पाप के अनुसार ही उन्हें फलस्वरूप जाति, आयु एवं भोग रूप फल देता है।

विज्ञान भिक्षु एक अन्य शंका को उठाते हए ईश्वर की राग–द्वेष से शून्यता को पुष्ट करते हैं। शंका यह है कि ईश्वर जैसा कि बताया गया है, भक्तों पर ही अपनी कृपादृष्टि रखते हुए उन्हें विभिन्न ऐश्वर्यादि से संम्पन्न करता है अन्यों को नहीं तो वह इस वैषम्य नित्य मुक्त कैसे कहा जा सकता है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए वह लिखते हैं कि जिस प्रकार अग्नि स्वभाव से उष्ण है, ठीक उसी प्रकार भक्तों पर अनुग्रह करना ईश्वर का स्वभाव है, अतः उसे रागद्वेष युक्त नहीं कहा जा सकता।[16]

यदि ईश्वर को करुणावश, जीवों की मुक्ति हेतु सृष्टिकर्ता माना जाये तो उसे संवेदनापूर्ण मानना पड़ेगा। संवेदनाएं चूँकि चित्त का विषय है अतः ईश्वर संवेदनशील चित्तधारी हैं संवेदनाएं चूँकि परिवर्तनशील होता है अतः परिवर्तनशील संवेदनाओं से चित्त में वृत्तियों का आना स्वाभाविक है इस प्रकार वृत्तियों से उलझे चित्तधारी ईश्वर को भी बंधन में माना जायेगा। योग का विशेषपुरुष नित्यमुक्त और स्वतंत्र माना गया है इस प्रकार करुणामय ईश्वर और नित्यमुक्त पुरुष की कल्पना विरोधाभास पूर्ण है।

योग दर्शन में ईश्वर को सत्व प्रधानचित्त वाला कहा गया है। अतः सत्वगुण प्रधान ईश्वर को त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति से सर्वथा असम्बद्ध होना चाहिए। अतः ईश्वर को सृष्टि प्रक्रिया का न तो जीवों के प्रति करुणावश निमित्त कारण माना जा सकता है और न नित्यमुक्त होने के कारण भक्तों के प्रति रागादि का हेतु।

योग दर्शन में तत्त्वमीमांसीय की अपेक्षा धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से ईश्वर को ज्यादा महत्त्व दिया गया है। ईश्वर प्राणियों पर अनुग्रह कर उन्हें कर्मानुसार फल देने तथा जीवों के प्रतिबंधों को दूर कर उनके कैवल्य लाभ हेतु सहयोगी हैं। यह मनतव्य पतंजलि के कुछ सूत्रों से स्पष्ट होता है यथा ईश्वर का वाचक शब्द ओंकार है।

तस्य वाचकः प्रणवः।[17]

उसका जप करने से और उसके साथ मन में ईश्वर की भावना करने से आत्म स्वरूप का बोध हो जाता है तथा योग साधना में आने वाली बाधाएँ, आलस्य, संशय आदि दूर हो जाती है। इस प्रकार प्रणव (ओंकार) जप के साथ ईश्वर में मन एकाग्र करने को पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान कहा है। **ईश्वर प्रणिधानाद्वा।**[18] योग के आठ अंगों में से द्वितीय अंग नियम के अन्तर्गत जो पाँच नियम आते हैं उसमें ईश्वर पणिधान एक नियम है ये पाँच नियम हैं– शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान। इन पाँच नियमों में से अंतिम तीन को अर्थात् तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को मिलाकर पतंजलि ने क्रियायोग शब्द से कहा है। इस क्रियायोग का अभ्यास योग की प्रारंभिक अवस्था में करने को कहा गया है। उससे मन की एकाग्रता बढ़ती है और मन की अशुद्धियाँ अर्थात् क्लेशादि दूर होते हैं।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।[19]

निष्कर्षतः इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि रचना में योग के अनुसार ईश्वर का कोई स्थान नहीं है फिर भी साधना के आरम्भ में ईश्वर में मन को एकाग्र करने से बहुत लाभ मिलता है परन्तु क्या योग के अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए ईश्वर के अस्तित्त्व में विश्वास कराना अनिवार्य है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना पड़ेगा कि योग की सफलता के लिए ईश्वर में विश्वास आवश्यक नहीं है। एक निरीश्वरवादी भी अष्टांग योग के अभ्यास से स्वरूप दर्शन की अंतिम अवस्था निश्चित ही प्राप्त कर सकता है। ईश्वर सहायक के रूप में मानव का अंतिम स्वलक्ष्य आराध्य देवता अथवा परम महत्त्व नहीं रखता है और इस रूप में ईश्वर को अपना स्थान नहीं मिलता है, फिर यदि ईश्वर प्रणिधान को सहायक भी काना जाये तो इसे योगक्रिया का सारभूत अंग नहीं समझना चाहिए क्योंकि अन्त में चित्तवृत्ति निरोध ईश्वर निरपेक्ष प्रक्रियाओं के आधार पर ही प्राप्त होता है। अतः ईश्वर प्रणिधान योग सिद्धी में बनावटी साधन माना जायेगा।

वस्तुतः देखा जाये तो योगदर्शन का चरम उद्देश्य यही है कि प्रकृति पुरुष का भेद इस तरह जान लिया जाये कि जीव सभी चित्तवृत्तियों और उनके विषयों से निर्लिप्त हो जाये। विवेक प्राप्ति में ईश्वर प्रणिधान को केवल साधन ही माना जा सकता है। फिर ईश्वर का सम्बन्ध प्रकृति विकास से नहीं रहता है और न संसार विलयन से। अधिक से अधिक मुक्ति–प्राप्ति के मार्ग में ईश्वर की दया सहायक हो सकती है। परन्तु यहाँ भी ईश्वर और जीव तथा अन्य पुरुषों का संबंध बुद्धिगम्य नहीं मालूम पड़ता। यदि ईश्वर वैसा नित्य मुक्त है और जिसके चित् का कोई विषय नहीं है तो वह किस प्रकार प्रकृति में बंधे जीव को अपना विषय बना सकता है इसलिए यदि ईश्वर वस्तुतः निर्लिप्त, निर्विकार, निर्विषय शुद्ध चेतना हो तो ईश्वर का स्वरूप शंकर के निर्गुण ब्रह्म का हो जाता है और यदि ईश्वर स्वयं संसार का रचयिता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हो तो उसका स्वरूप अद्वैतवादी वेदांत के सगुण ब्रह्म का हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि योग दर्शन में सैद्धान्तिक तर्कसंगत तथा इनके प्राचीनतम रूप में ईश्वर प्रत्यय की आवश्यकता नहीं होती और इसलिए इन्हें अनीश्वरवादी कहा जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. योगवासिष्ठ 6/1/11/3
2. डॉ0 उमाशंकर शर्मा भाष्यकार– सर्वदर्शन संग्रह, पृ0 554
3. पातंजल–योगसूत्र 1/2
4. व्यासभाष्य, पृ0 1
5. योगसूत्र 1/24
6. योगवार्तिक, पृ0 71
7. व्यासभाष्य, पृ0 66
8. योगवार्तिक, पृ0 74
9. व्यासभाष्य, पृ0 76–77
10. योगवार्तिक, पृ0 72
11. डॉ0 राधाकृष्णन–भारतीय दर्शन, भाग–2, पृ0 294
12. योगसूत्र 2/23
13. वही, 2/25
14. ईश्वरकृष्ण–सांख्यकारिका, 56वाँ
15. योगसूत्र 2/20
16. उदयवीर शास्त्री– सांख्यसिद्धान्त पृ0 55
17. योगसूत्र 1/27
18. वही, 1/23

साहित्य की प्रकृति एंव जनपक्षधरता

डॉ0 रंजना पाण्डेय

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

साहित्य किसी धर्म, समाज, जाति, वर्ण, व्यक्ति से बधा हुआ नहीं है। साहित्य मानवीयता की आधार भूमि है और मानवीयता का आधार लोक की स्थापना है। लोक अर्थात् जिसमें सभी तत्त्व एक दूसरे से प्रकाशित होते हैं जहाँ एक का प्रकाश स्वयं के लिए नहीं होता, बल्कि समस्त लोक के प्रकाश में एकाकार हो जाता है और साहित्य इसी लोक की ही उपज है। लोक की परिकल्पना के मूल में अगर व्यक्ति है तो व्यक्ति की परिकल्पना के मूल में साहित्य। साहित्य का सीधा–सीधा अर्थ है जिसमें सभी का हित समाहित हो वह है साहित्य। यह कैसे सम्भव हो सकता है? तब यह कहा जा सकता है कि यह तभी संभव होगा जब साहित्य किसी स्वार्थ से बंधा हुआ न हो। यह हुई साहित्य की पारंपरिक परिभाषा।

कहा जाता है कि साहित्य जनता के हृदय का प्रतिबिंब है। अर्थात जैसे–जैसे जन का ह्रदय परिवर्तन की एक तरफ अग्रसर होगा साहित्य की धारा भी वैसे ही मुड़ जाएगी। अगर इसका उदाहरण देखना हो तो हिन्दी साहित्य में प्रवेश करना होगा। जैसे कि वीरगाथा काल। आदि काल में अगर जन समूह के ह्रदय में वीरता के तत्त्व न समाहित होते तो क्या आचार्य शुक्ल इसे वीरगाथाकाल नाम देते? क्योंकि वह किसी भी काल के नामकरण के संबंध में दो बिन्दु रखते है पहली कि जनसमूह की चित्तवृति और दूसरी ग्रंथों की प्रचुरता। उसी कड़ी में भक्तिकाल, रीतिकाल और गद्यकाल के नामकरण पर भी विचार करना चाहिए।

साहित्य का उद्देश्य क्या है? तो कहा जा सकता है कि सर्व जन हिताय सर्व जन सुखाय। यह तो हुआ सूत्र वाक्य। अब अगर इसकी व्याख्या की जाय तो साहित्य के विस्तार में जाना होगा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक निबंध है 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' जिसमें वह लिखते हैं मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके ह्रदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है ।..... साहित्य का कारबार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है। जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के लिए कुछ खास–खास बिषय ही पढ़ने के हैं, वे बड़ी गलती करते हैं आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड़ फेकना चाहते हैं तो आप चाहे जो भी मार्ग ले, राजनीति से अलग होकर नहीं रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नहीं कर सकते और विज्ञान की नई प्रवृत्तियों से अपरिचित रहकर कुछ नहीं कर सकते। साहित्य केवल बुद्धि विलास नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करके सजीव नहीं

रह सकता।[1] कहीं न कहीं द्विवेदी जी साहित्य के विस्तार की बात स्वीकार करते हैं। कि साहित्य को अब सिर्फ भारतीय काव्यशास्त्र के आधार पर व्याख्यायित करने की जरूरत नहीं बल्कि उसको अनेक विषयों से जोड़कर देखना ही साहित्य को समृद्ध प्रदान करना है।

आज समाज स्वार्थ के वशीभूत हो गया है, यह स्वार्थ इस कदर हावी होता जा रहा है, कि व्यक्ति अपने मूल भावों को भूलता चला जा रहा है। धर्म, मजहब, सत्ता का मद इस हद तक प्रभावशाली हो गया है कि उसे हथियार बनाकर सभी अपना स्वार्थ साधने में लगे हुए हैं। आज जहां शक्ति है वहीं न्याय नजर आ रहा है। निराला ने भी 'राम की शक्ति पूजा में' राम को भी लाचार होते दिखाया है मद और शक्ति के समक्ष। उसी कविता की एक पंक्ति है 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' कहकर निराला समाज की वास्तविकता से परिचित कराना चाहते है कि अब न्याय भी लाचार होगा शक्ति के समक्ष। यह शक्ति किसी साधना से प्राप्त नहीं हैं। यह शक्ति चापलूसी, जी हजूरी, दाँतनिपोरने से प्राप्त हुई है। अपने निबंधों के माध्यम से व्यंगकार हरिशंकर परसाई ने इस समय कि सच्चाई को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है। 'विकलांग श्रद्धा का दौर' निबंध में चापलूसी करने वालों का ही समय बताते हुए परसाई लिखते हैं 'मैने कुछ लोगों को चरन छूने के बहाने उनकी टाँग खींची है। लँगोटी धोने के बहाने लँगोंटी चुराई है। श्रद्धेय बनाने की भयावहता मैं समझ गया था। वरना मै समर्थ हूँ। अपने आपको कभी का श्रद्धेय बना लेता। मेंरे ही शहर के कालेज में एक अध्यापक थे उन्होंने अपने नेम प्लेट पर खुद ही 'आचार्य' लिखवा लिया था। मैं तभी से समझ गया कि इस फूहड़पन में महानता के लक्षण हैं।[2]

अर्थात् आज जो जैसे बड़ा बनना चाह रहा है वह अपने मन मुताबिक रास्ता तैयार कर लेता है। अगर समाज किसी को कोई पदवी या सम्मान नहीं देना चाहता क्योंकि वह उसके योग्य नहीं है, लेकिन वह व्यक्ति अपने को योग्य समझता है तो समाज को न दिये बिना भी अगर उसका मन करता है तो वह खुद ही ले लेता है उसके लिए चाहे उसे जो भी करना क्यों न पड़े। परसाई जी इस समय की वास्तविकता को नंगा करते हुए यह कहते है कि आज श्रद्धा का वह अर्थ नहीं जो पहले हुआ करता था। आज श्रद्धा पुराने अखबार की तरह रद्दी में बिक रही है। विश्वास की फसल को तुषार मार गया है।

इतिहास में शायद कभी किसी जाति को इस तरह श्रद्धा और विश्वास से हीन नहीं किया गया होगा। जिस नेतृत्व पर श्रद्धा थी उसे नंगा किया जा रहा है। जो नया नेतृत्व आया है वह उतावली में अपने कपड़े खुद उतार रहा है। कुछ नेता अंडरवीयर में ही हैं। कानून से विश्वास गया। अदालत से विश्वास छिन गया बुद्धजीवियों की नस्ल पर ही शंका की जा रही है। डॉक्टरों की बिमारी पैसा करने वाला सिद्ध किया जा रहा है। कहीं कोई श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं''।[3] जहां आचार्य शुक्ल–श्रद्धा भक्ति निबंध के माध्यम से श्रद्धा, प्रेम और भक्ति की महत्ता को बताते हैं। कि ''श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है''। वहीं श्रद्धा का अर्थ विल्कुल विपरीत धारा में बहाया जा रहा है। साहित्य का यह कर्तव्य कि वह संकट के समय में जब व्यक्ति अपना विवेक खो चुका है और स्वार्थ में अंधा हो गया है। वह सत्ता की जुबानी संवाद कायम कर रहा है तब उसको उचित मार्ग प्रशस्त कराना है।

साहित्य सहृदय के मानस में विचरण करता है साहित्य को आत्मसात करने के लिए भी योग्यता होनी चाहिए जिसमें यह योग्यता नहीं होगी साहित्य के क्षेत्र में वह प्रवेश नहीं कर सकता। साहित्य मानवीयता के संचार का माध्यम है। कुछ आलोचकों ने साहित्य को समाज की कसौटी माना वहीं किसी ने साहित्य को जीवन की कसौटी मानते हुए कहा कि समाज में जो भी कुछ दिख रहा है वह साहित्य में दिखता है। साहित्य अपने युग व संदर्भों से कटा हुआ नहीं है। साहित्य समय से संवाद है। साहित्य वर्तमान में रहते हुए भूत को देखते भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता है। साहित्य जीवन के सारतत्व की अभिव्यक्ति है। 19वीं शताब्दी आते–आते साहित्य में सब कुछ बदलने लगा, जिसका कारण सामजिक., राजनीतिक बदलाव था। समय बदला भावों में परिवर्तन आया तो साहित्य में भी परिवर्तन आ गया। 1936 के बाद की कविताओं का स्वर बदल गया जो कविताएँ कोमल कांत पदावली से युक्त थी अब देश की जनता की जागृत के रूप में प्रस्तुत हुई, जन आवाहन करने लगी। निराला ने देशव्यापी आन्दोलनों के साथ अपना स्वर मिलाते हुए कहा ''शेरों की माद में आया है आज स्यार जगों फिर एक बार''। इसी तरह प्रेमचंद के साहित्य में अपने समय का जीवन दिखाई पड़ता है। जब 1936 में वह प्रगतिशील लेखक संघ की अध्यक्षता लखनऊ में किया तथा अपने भाषण में कहा कि साहित्य ''जीवन की आलोचना है'' चाहे वह निबंध के रूप में हों, चाहे कहानियों के या कवि के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।.....हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदा करें, सुलाए नहीं क्योकि अब ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है''।[4]

मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' जिसमें वह लिखते हैं मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। साहित्य का कारबार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है।

साहित्य का एक ही उद्देश्य है, एक हृदय का विस्तार दूसरे के हृदय से होकर जाता हो। वह दूसरा किसी तीसरे से मन से जुड़कर खुश होता है और यहीं कड़ी आगे बढ़ती है। हृदय का योग ही साहित्य का अन्तिम लक्ष्य है। इस हृदय की अपनी भी एक योग्यता होनी चाहिए, वह सहृदयता को धारण किए हुए हो। और यही सहृदयता साहित्य जगत को विनिर्मित करने की पहली शर्त है और जीवन को जीने की भी। साहित्य में पक्षधरता का सवाल साहित्य की मूल संवेदना से जुड़ा है। ऐसा साहित्य जो समाज के निम्न वर्ग का पक्ष लेने के बजाय उच्च वर्ग के हितों की बात करता हो, उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता। साहित्य वही है जो पीड़ितों दलित जनता के दुखों को कम करने में मदद करें। सत्ता में साहित्य का विरोध इन्हीं सरोकारों के कारण होता है। साहित्य अपने समय की समस्याओं को आम जन के सम्मुख अभिव्यक्त करता है जबकि सत्ता अपने स्वार्थो के कारण आम जन का शोषण करके अपना हित पूरा करती है। इसीलिए सत्ता, साहित्य का दमन करने का प्रयास करती है। साहित्य ने अपनी

स्वायत्ता को हर युग में बनाए रखने का प्रयास किया है। मध्यकाल में कबीर को अपने बिचारों के कारण शारीरिक यातना तक झेलनी पड़ी तो वहीं तुलसीदास ने सत्ता का मद करने वालों पर प्रहार किया। कुंभदास ने साहित्य की स्वायत्तता को विस्तृत धरातल पर स्वीकार किया।

संतन को कहाँ सीकरी सो काम?
आवत जात पनहिया टूटी, बिसर गयो हरि नाम।

साहित्य और सत्ता का प्रतिरोध हमेशा बना रहा। सत्ता के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन देखा जा सकता है। यह सही है कि परिवर्तन के साथ है। आज विज्ञान का युग है। इसमें साहित्य किस प्रकार अपना सहयोग देगा इस पर विचार करना चाहिए। संस्कृत के आचार्यो ने जिस धरातल काव्य या साहित्य को प्रतिष्ठित किया, क्या आज भी काव्य की परिभाषा वही होनी चाहिए या, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, मुक्तिबोध की कड़ी का विस्तार करना चाहिए। रामस्वरूप चतुर्वेदी भी इस बिंदु पर अपनी बात रखते है कि–'' साहित्य सृजन के बहुत से उद्देश्य माने गये हैं– यश, अर्थ के लिए, व्यवहार की जाानकारी के लिए आदि। स्पष्ट ही यहां दृष्टिकोण लेखक लेखक का है, उसके साहित्य समाज के प्रति क्या दायित्व होना चाहिए, इसकी विशेष मीमांसा प्राचीन काव्य शास्त्र में नहीं हुई ''।[5]

आज कविता, कहानी, उपन्यास आदि के लिए पाठक वर्ग की कमी दिखाई दे रही है पहले चन्द्रकान्ता उपन्यास जब प्रकाशित हुआ तो उसको पढ़ने के लिए कितने व्यक्तियों ने हिन्दी भाषा को सीखा। आज किसी रचना को पढ़ने के लिए पाठकों की रूचि विकसित न होने का कारण क्या है? किसी रचना को सम्मान बुकर पुरस्कार, साहित्य का नोबल पुरस्कार या भारतीय पुरस्कार क्यों न मिल जाए लेकिन उस रचना के पाठ के लिए हम भाषा सीखने के लिए अग्रसर नहीं होते हैं। अब हम भाषा सीख भी रहे हैं तो वह जो रोजगार से जोड़ रही हो तथा तकनीकी रूप में जिसका उपयोग किया जा सके। इसलिए फ्रैन्च, जैपनीज, जर्मन, पोलिश आदि भाषाओं को अधिकांशतः भारतीय सीख रहे हैं। यह रूचि उत्साह से प्रेरित नहीं है। रोजगार से प्रेरित है।

आज साहित्य को सिर्फ साहित्य के नए दायित्व, ह्रदय पक्ष से जोड़कर नहीं देखा जा सकता है जैसा कि मैने इस लेख के प्रारंभ में साहित्य के संदर्भ में कहा है। यह सत्य है कि साहित्य की आत्मा लोक व सह्रदयता है, लेकिन यह भी झुठलाया नहीं जा सकता कि आज समाज अनेक दिशाओं में आगे बढ़ रहा है। जिसमें संचार – साधन, कला माध्यमों और विज्ञान का योगदान अत्यधिक है। रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते है कि ''साहित्य का अनिवार्य संदर्भ और उपजीव्य मनुष्य जीवन है। जीवन में बड़े परिवर्तनों के उपस्थित होने पर साहित्य को भी अपनी भूमिका पर पुनर्विचार करते रहना होता है। इस दृष्टि से बीसवीं शती, विशेषतः अपने उत्तर समय में, तीव्र परिवर्तनों की शती रही है जबकि तकनीकी ने उसकी गति अभूतपूर्व रूप में बढ़ा दी है। तकनीकी उद्देश्य ही है देशकाल का लाघाव''।[6] आज साहित्य का दायित्व जो तय किया गया है या जो निर्धारित किया गया है वही रहना चाहिए? या साहित्य का दायित्व व उद्देश्य में विस्तार होना चाहिए आज कविता कहानी उपन्यास आदि के लिए पाठक वर्ग की रूचि का अभाव हो रहा है। साहित्य को समझने के लिए अब समाजशास्त्र के अध्ययन पर बल दिया जा रहा है। ''साहित्य का समाजशास्त्र'' विषय पर आज अनेक प्रकार से अध्ययन किया

जा रहा है क्योंकि साहित्य को अब सिर्फ काव्य व गद्य विधाओं में विभाजित कर उसका लोक सहृदय के संबंध में देख व मूल्यांकन करके साहित्य को समझने की दृष्टि का विकास नहीं किया जा सकता है। मैनेजर पाण्डेय साहित्य की समाजशास्त्र की भूमिका के संबंध में लिखते है–''आजकल हिन्दी आलोचना के सामने एक चुनौती है साहित्य में व्यापक पाठक समुदाय की गहरी दिलचस्पी पैदा करना और उसे बनाए रखना। यह आलोचना का एक सांस्कृतिक और सामाजिक दायित्व भी है। प्रायः अभिजनवादी दृष्टि वाले आलोचक साहित्यिक रचना की ऐसी व्याख्या कराते है कि वह रहस्यमय वस्तु बन जाती है। तब साहित्यिकता की पहचान मुट्ठी भर विशिष्ट रसिकों के लिए सुरक्षित हो जाती है। ऐसी स्थिति में अगर साधारण पाठक उस रहस्यमय साहित्यिकता से आतंकित होकर साहित्य से दूर ही रहे जो क्या आश्चर्य। साहित्य का समाजशास्त्र इस बनावटी रहस्यता का पर्दा फास करके सोहत्य के सामाजिक रूप और अर्थ को उजागर करता है। जिससे साधारण पाठक उसकी ओर आकर्षित होता है''।[7]

साहित्य की आवश्यकता समाज को प्रत्येक क्षण होगी यह आवश्यक नहीं है। प्लेटो ने अपने समय में काव्य को सीधे–सीधे नकार दिया। काव्य को लेकर प्लेटो ने अपने राज्य में यह घोषणा करा दी कि कवियों को देश से निकाल देना चाहिए क्योंकि कवि भावुक होता है जिससे व्यक्ति कमजोर होता है। प्लेटो का यह निर्णय अपने राज्य को बचाने के संबंध में था, क्योंकि उसे युद्ध के लिए सैनिकों की आवश्यकता थी न कि कवियों की। प्लेटो का यह कहना काफी हद तक गलत नहीं था। क्योंकि एथेंस में युद्ध हो रहा था राज्य की रक्षा का दायित्व राजा प्लेटो पर था। प्लेटो ने यह भी कहा कि काव्य सत्य से तीन गुना दूर है अर्थात् काव्य अनुकरण का अनुकरण है। वहीं प्लेटो का शिष्य अरस्तू ने अपने गुरू का कथन स्वीकार करते हुए एक विन्दु उसमें और जोड़ दिया कि काव्य अनुकरण का अनुकरण तो है लेकिन उस अनुकरण में भी मौलिकता का समावेश होता है। जैसे कि मूर्ति को देखकर अगर कोई मूर्तिकार मूर्ति बनाता भी है तो कहीं न कहीं वह बहुत कुछ खुद का भी जोड़ता चलता है। रिचर्डस 'मूल्य सिद्धान्त' कि स्थापना करने के साथ परिभाषा देते हैं जो हमारे आवेगों को सबसे ज्यादा संतुष्ट करता है वह हमारे लिए मूल्यवान है' इस प्रक्रिया में एक कड़ी का विकास कराते हैं –अनुभूति>इच्छा>प्रवृति>रूचिकर>आनंद की परिणिति है मूल्यवान बनाने में। इस मूल्य सिद्धान्त का साकारात्मक के साथ–साथ नकारात्मक व्याख्या भी की जा सकती है। यह सब कहने का अर्थ यह है कि काव्य को एक सर्वाभौमिक सत्य के रूप में देखना और काव्य की आलोचना न करना कहीं न कहीं काव्य की विकास यात्रा को अवरूद्ध करना है। रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते है– ''अभी तक कवि को मुख्य रूप से मनोविकारों से उलझना पड़ता था। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार वह उग्र या कि स्थायी भावों को पका कर रस की कोटि तक ले जाता था, पाश्चात्य नाट्यशास्त्र की दृष्टि में वह इस भावों का रेचन करके दर्शक श्रोता–पाठक को स्वस्थ बनाता था। एक विवेचन के अनुसार शमन का कार्य बहुत कुछ रचना में हो जाता है, जबकि दूसरे पक्ष में यह वस्तुतः सामाजिक का होता था। आधुनिक आलोचना में भी मनोभावों और उसके लिए ''आब्जैक्टिव कोरिलेटिव'' तलाशने की बात कही गयी है। यों किसी न किसी रूप में रचना का मूल सरोकार मनोंविकारों का शमन माना जाता रहा, जो इस प्रकार से समूची

सांस्कृतिक व्यवस्था की बुनियाद कही जा सकती है।''[8] कहा जाता है कि साहित्य यर्थाथ् का चित्रण है तो यथार्थ में सामाजिकता व कल्पना आ सकती है लेकिन आदर्श की मात्र बहुत कम होती है। यह भी नही कि आदर्श हर जगह चलाया या दिखाया जा सकता है। दर्शन, विज्ञान व साहित्य सभी खेज में संलग्न हैं, परन्तु भाषिक अभिव्यक्ति अलग–अलग है। सभी एक तत्व की खोज करते है, वह है सत्य। दर्शन जीवन और जगत की निष्पत्ति प्रस्तुत करना चाहता है। विज्ञान सत्य को तर्क और प्रयोग के आधार पर कसता है और साहित्य जीवन को उसकी गतिशील सजनात्मक प्रक्रिया में अंकित करना चाहता है।

साहित्य की प्रकृति क्या हो? साहित्य का मानदंड क्या निर्धारित किया जाए? कौन सी वस्तु साहित्य की श्रेणी में आ सकती है? ऐसे ही कई प्रश्न है जिन पर पुनः विचार किया जा सकता है। साहित्य की कई परिभाषा यहां कई आचलोंको के अनुसार दी गयी है। जिसमें एक परिभाषा यह भी है कि समस्त मुद्रित वाड्.मय साहित्य है। इस परिभाषा के अनुसार लेखन का एक बहुत बड़ा हिस्सा 'साहित्य' के अन्तर्गत लिया जा सकता है। साहित्य का कोई फ्रेम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जीवन का कोई फ्रेम नहीं होता। फिर हम क्यों कहते हैं कि यह साहित्य है और यह नहीं। ऐसा कौन सा सौन्दर्यमूल्य है, तर्क और विज्ञान का अपना।

रेनेवेलेक आस्टिन वारेन साहित्य के प्रकृति के विषय में लिखते है–''साहित्य को महान ग्रंथो तक सीमित कर दिया जाता है। ये ग्रंथ चाहे जिस भी विषय के हों शिल्प और अभिव्यंजना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने चाहिए। यहाँ या तो उनके सौन्दर्यात्मक मूल्य को ही माना जाता या सौन्दर्यात्मक महत्त्व के साथ सामान्य बौद्धिक विशिष्टता को भी इनकी कसौटी बनाया जाता है। गीतिकाव्य नाटक और कथा–साहित्य में से महान कृतियां सौन्दर्यशास्त्रीय आधार पर चुनी जाती है, अन्य पुस्तकें अपनी प्रसिद्धि या बौद्धिक श्रेष्ठता और बहुत संकीर्ण किस्म के सौंदर्यशास्त्रीय मूल्य के आधार पर चुनी जाती है, इनमें जिन विशिष्टताओं की ओर संकेत किया जाता है वे हैं शैली, संपुंजन और प्रस्तुतीकरण की सामान्य शक्ति। यह साहित्य का भेद समझने या इसके विषय में बात करने का सामान्य तरीका है। जब हम कहते हैं कि 'यह साहित्य नहीं है' तब हम इसी तरह का एक मूल्य निर्णय प्रकट कराते है। इसी तरह का निर्णय हम तब भी कर रहे होते है जब हम इतिहास, दर्शन या विज्ञान की पुस्तक को 'साहित्य' के अन्तर्गत बताते हैं'' ।[9]

इस प्रकार साहित्य की प्रकृति और उसके सामाजिक सरोकार का एक नए समय संदर्भ में व्याख्या करने तर्कात्मक तरीके से प्रस्तुत करने के लिए तैयार करना या कराना यही समय की माँग है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1– (संपादित) साभार–हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली–10,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
2– नवीन निबंध संग्रह, हीन्दी परिषद प्रकाशन इलाहाबाद, नवीन संस्करण 2015 पृ–48
3– वही पृ– 50
4– लखनऊ (1936) में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना पर दिया गया अध्यक्षीय भाषण।
5– साहित्य के नए दायित्व रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृ– 14

6– साहित्य के नए दायित्व, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृ– 13
7– साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ0 मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य आकदमी, चंडीगढ़ प्रथम संस्करण 1989 पृ– 11
8– साहित्य के नए दायित्व, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृ– 14
9– साहित्य सिद्धान्त–रेनेवेलेक आस्टिन वारेन, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 2000, पृ– 25

दूधनाथ सिंह की कहानियों में यथार्थ जीवन का भावबोध

सुमन शुक्ला

नेट
बक्शी खुर्द, दारागंज,
इलाहाबाद

आधुनिक हिंदी जगत में कहानीकार के रूप में दूधनाथ सिंह एक सफल कहानीकार सिद्ध होते हैं। इनकी कहानियों में आज के वातावरण व परिस्थितियों से उत्पन्न समस्यायें, मध्यम वर्ग के लोगो के जीवन की दशाएं इत्यादि का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कुछ कहानियों में मानव के अपने सम्बन्धों का अजनबीपन पीढ़ियों का अन्तराल और उससे उत्पन्न तनाव, राजनीतिक भाव व अवमूल्यन, दफ्तरों की यांत्रिकता और भ्रष्टाचार, शिक्षा पद्धति की जड़ता, टूटते हुए मूल्यों की पीड़ा। यह सब कुछ सजीव रूप में झलक उठता है। आधुनिक जीवन में जो कुछ दिखाई दे रहा है और जो कुछ नहीं दिखाई दे रहा है। उन समस्त तथ्यों का मानवीय संवेदना से युक्त होकर कुशल चित्रण किया गया है। समाज को बेहतर बनाने में जो मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है उन सबका एक विकल्प बनाने की ओर संकेत करते हैं।

आधुनिक जीवन में जो परिवर्तन आया है उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक व राजनीतिक परिस्थितियों से अलग नहीं है। साठोत्तर कालीन कहानीकारों में दूधनाथ सिंह जी ने अपनी कहानियों में आधुनिक जीवन से टकराते हुए आज के मनुष्य के टूटने का यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। उनकी कहानी में उनके अनुभवों की तीखी अभिव्यक्ति है। जहा एक ओर संवेदना का उपचार उनके प्रतिभा का उद्धोतक है वही दूसरी ओर शिल्प का मोह उन्हें एक प्रेम में जकड़ लेता है। दूधनाथ सिंह जी ने अपनी कहानियों में आधुनिक समाज के नए संदर्भो को इमानदारी से प्रस्तुत किया है। भाषा, भाव, सवेंदना, इत्यादि की दृष्टि से वे एक सफल कहानीकार हैं।[1]

डॉ0 विशम्भरनाथ उपाध्याय, दूधनाथ सिंह की कहानियों के सन्दर्भ में लिखते हैं– "दूधनाथ सिंह की कहानियों, अनुभूतियों के भंवर जाल के कारण नयी कहानी एवं आज के सपाट कहानियों के बीच की जान पड़ती है। 'स्वर्गवासी' में लेखक चाहता तो कमलेश्वर की 'खोयी हुयी दिशाओं' के नायक को अपनी तरह किसी औरत का स्वाद चखा सकता था। लेकिन उसमें यथार्थ की भयंकरता कुछ कम होने की आशंका थी।"[2]

इनकी कहानियां अपने अन्दर आधुनिकता का बोध को समेटे हुए है क्योंकि वह अपनी कहानी कें अतिंम अंश में पहुच कर उसे भीतर की ओर धकेलते है। उनकी कहानी 'सुखान्त' पर टिप्पणी करते हुए मधुरेश कहते हैं 'सुखान्त' में अमूर्तन और उलझाव की प्रवृत्ति बढ़ी है। इनकी कहानियों में जो व्यवस्था अंकित है वह कहीं पर अपने स्पष्ट एवं वास्तविक रूप में उपस्थित नहीं है। स्वर्गवासी का कृष्णलाल और विजेता कबन्ध और सुगन्ध में दुर्बोधता, अमूर्तन और शिल्प प्रयोग के प्रति अर्थहीन मोह जैसी चीजे उन्हें अकहानी की सीमा में लाकर एक

नकली माहौल की नकली लडाई कहानियां बना देती है। हम लोग एक लम्बी दीवार अपनें सिरों और कन्धों को टक्कर से तोड़ रहे थे।[3] सुखांत की यह घोषणा अपने में बडी अस्पष्ट और अमूर्त सी है। यह न तो हम की व्याख्या करती है और न तो कंधे से तोड़ने की कोशिश की जा रही है। इस कोशिश का उल्लेख भर हुआ है। उसकी प्रकृति, प्रक्रिया और परिणाम कहानी में नहीं है।

दूधनाथ की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता अनुभूतियों एवं अभिव्यक्तियों की है। इनके यहां परिवेश की विसंगतियों का गहराई से तथा सूक्ष्मतापूर्ण अध्ययन करके उनकी अभिव्यक्ति यथार्थपूर्ण ढंग से करते हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियां तो अपने समकालीनो के सामान ही है। उनके द्वारा उसमें मध्यम वर्ग के परिवार के विघटनों का चित्रण किया गया है। 'स्वर्गवासी' कहानी के दूधनाथ सिंह ने मनस तत्व के सहारे वास्तविकता को एक नरक के रूप में प्रदर्शित किया है। यह कहानी एक निम्न, मध्यम वर्ग के एक बेकार युवक की कहानी है। यह युवक बेकार है, भ्रष्टाचार के कारण पटवारी की नौकरी से निकाल दिया जाता है। नौकरी की तलाश में अपने जीजा–जीजी के घर में रहने लगता है, जीजा–जीजी के घर तथा आस–पास के विघटित वातावरण को देखता हुआ वह उसी माहौल में बेहया की तरह रहता है। उस नरक में भी वह सुख की अनुभूति करता है। लेकिन यह ग्लानि उसे अस्थिर तथा विकृत बना देती है। सामान्य स्वस्थता किस प्रकार विकृत में परिवर्तित होती है उसका यथार्थ चित्रण हम स्वर्गवासी में देखते है।

'रीछ' दूधनाथ सिंह की एक चर्चित कहानी है। इसमें अतीत व काम ग्रंथ के द्वन्द का चित्रण यथार्थ रूप में किया गया है। इन दोनो में पीसते हुए 'रीछ' कहानी का नायक मनस्तापी हो उठता है। वह अतीत से पूर्ण मुक्त होना चाहता है। उससे मुक्त होकर वह निबोध यौन सुख भोगना चाहता है पर दमित अचेतन बार–बार सक्रिय होकर उसे हतास व कुंठित कर देता है। वह अपने अतीत से मुक्त नहीं हो पाता। व्यक्ति काम तृप्ति के समय रीछ की भाँति चित्रित किया गया है। कहानी का मैं जब कमरे में आता है, उसे यह महसूस होता है उसकी आहट पाते ही तहखाने की किवाड़ भयानक रूप से खरोचने लगता है और घुरघुराने लगता है। लगता है वह उसकी छाती के अन्दर फेफड़ों को लगातार खरोच रहा है। अब उसकी आँखों में पहचान एकदम खत्म हो गयी है। प्रस्तुत कहानी पति–पत्नी आपस में शरीर और सम्भोग के सम्बंध में खुलकर बात करते हैं। पत्नी नारी और पुरूष में अंतर को स्पष्ट करती है– स्त्री हमेशा नैतिक होती है। उसका अपना पति उसे रोज नया लगता है। पर तुम लोग.....।

'रीछ' कहानी का पात्र 'मैं' पत्नी से उन्मुक्त रूप से यौन सम्बंध करना चाहता है। पर वह ऐसा नहीं कर पता क्योंकि उसका अतीत उसका पीछा नहीं छोड़ता। अचेतन में छिपे अतीत के अन्य नारी के सम्बन्ध उसे पाप व अपराध की भावना से ग्रस लेते हैं वह डरता है कि कहीं उसकी पत्नी उसके अतीत के संबंधो को जान न ले। वह सोचता है, वह पत्नी को सब कुछ खुद ही बतला देगा या उस रीछ को वह स्वयं मार डालेगा। फिर सोचता है की वह अचेतन को दमित कर मुक्त हो जाएगा पर तभी उसे दमन–जन्य गम्भीर परिणामों की कल्पना परेशान कर देती है। इसलिए वह फिर अचेतन के दमन का विचार छोड़ देता है। व्यक्ति हमेशा अपने अतीत के साक्षात्कार से डरता है। इसका चित्रण दूधनाथ सिंह ने यथार्थ रूप में किया है।

दांपत्य स्तर पर जागृत होने वाली कामचेतना को भी नयी कहानी ने कथा का रूप दिया है। युगों से जीवन और साहित्य में पुरूष प्रतिबद्धता की मांग करता है। पुरूषों के अनेक स्त्री–सम्बन्ध क्षम्य है। पर नारी यदि भूल से भी किसी पुरूष के साथ दिख जाये अथवा उसका स्पर्श भी हो जाए तो वह कुल्टा है, कलंकिनी है, यही इतिहासगत सत्य है। नये कहानीकार ने नारी, पत्नी नामक प्राणी के मनोविज्ञान को जगत सम्मुख रखा है। प्रतिबद्धता की आकांक्षा व मांग नारी में भी पुरूष के समान होती है। यदि उसे अपने अधिकार को बाटना पड़ता है तो अपनी भाववनाओं को परिस्थितियवश या स्वार्थवश दमित करती है। त्याग के नाम पर वह अपने मूल भावना को छिपा भले ही ले पर हर नारी इस भवना को दबाने के लिए तैयार नहीं है। वह पति को किसी अन्य स्त्री के साथ जाते देख लेती है तो वह स्वयं भी इसी तरह सम्बन्ध बनाने के लिए धमकी देती है– अगर मैने जान लिया ऐसा कुछ भी तुमने किया था, तो मैं भी तुम्हें दिखा दूंगी, तुम कल्पना भी नहीं कर सकते मैं एक क्षण में तुम्हारी पवित्रता की रट को तोड़ दूंगी। मैं किसी बहुत ही फूहड़ और नकारा आदमी के साथ–साथ।[4]

दूधनाथ की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता अनुभूतियों एवं अभिव्यक्तियों की है । इनके यहां परिवेश की विसंगतियों का गहराई से तथा सूक्ष्मतापूर्ण अध्ययन करके उनकी अभिव्यक्ति यथार्थपूर्ण ढंग से करते हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियां तो अपने समकालीनो के सामान ही है। उनके द्वारा उसमें मध्यम वर्ग के परिवार के विघटनों काचित्रण किया गया है। 'स्वर्गवासी' कहानी के दूधनाथ सिंह ने मनस तत्व के सहारे वास्तविकता को एक नरक के रूप में प्रदर्शित किया है।

दूधनाथ सिंह की कहानी 'आइसवर्ग' व्यक्ति के अवसाद, विषाद, अकेलेपन और खालीपन को चित्रित करने वाली है। सामाजिक अस्तित्व को तड़पते अकेले व्यक्ति की व्यथा इसमें मूर्त हुयी है। 'आइसवर्ग' व्यक्ति की सामाजिक कामना की कहानी है। परिवेश से पूर्वतः कट कर विघटित व्यक्ति को ढोता हुआ बलात समायोजन के कारण अन्दर से खोखला होता हुआ बाहर से शांत व्यक्ति की कारूणिक स्थिति का शिकार विनय है।[5]

दूधनाथ सिंह की 'विजेता' कहानी में अपने घिनौने और मायावी चेहरे को पकड़ने की कोशिश की गयी है। कहानी का 'मैं' कहता है– मैं जानता हूँ लेकिन भागता रहता हूँ और वह खूंखार दयनीय टूटता हुआ अपने ही नर प्रेत डर कर पीछा करते है। यह अपने भीतर का चक्रव्यूह है। जिसमे व्यक्ति सतत से संघर्ष रहता है। नर प्रेत एक प्रतीक है– अपने ही चारों ओर मडराते रहने का उन तमाम आत्म केन्द्रित प्रवृत्तियों का जिनके रहते वृहत्तर मानवीय आकांक्षा की बात बनाने लगती है, स्थितियां किस तरह आदमी से सच को झूठ में बदल देती है और आप चिल्लाते रहिये कोई यकीन नहीं करता। आदमी की वही विडम्बना है। मानवीयता किस तरह मेरा पीछा कर रही थी और मैं भाग रहा था। इस तरह यह कहानी बाहरी धरातल से एकाएक छलांग लगाकर अंतरंग धरातलों पर आ पहुँचती है। और आज के आदमी के विघटन व विसंगति की ओर संकेत करती है।[6]

इनकी कहानियों में यथार्थ भाव का बोध जैसे इनकी सुखांत का 'मैं' देखता है की मेरे शरीर पर जगह–जगह छोटे–छोटे हुए थे। गालों में, आखों कें इर्द–गिर्द पसलियों के बीच हड्डीदार कमर में, पगों में हरगढ़े बने जगह इन्हीं जगहों से मैं अपने को खाता जा रहा हूँ।

लगातार वर्षों अनवरत/कुण्ठित चरित्रों की भाषा में उनके व्यक्तिगत की असमान्यताओं, कुण्ठाओं, ग्रंथियों का प्रतिरूप दिखलाई देता है। यह अपनी कहानियों में जीवन के हर पहलू को छूते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1 नयी कहानी अंक एक जून 77 सुरेश सेठ पृष्ठ 258
2 समकालीन कहानी की भूमिका डॉ विसंभर नाथ उपाध्याय पृष्ठ 35
3 हिंदी कहानी का विकास– मधुरेश पृष्ठ 130
4 रीछ– दूधनाथ सिंह, पहला कदम पृष्ठ 148
5 समकालीन कहानी की भूमिका डॉ विशम्भर नाथ उपाध्याय पृष्ठ 351
6 पहला कदम (कहानी संग्रह) दूधनाथ सिंह सपाट चेहरे वाला आदमी

सांस्कृतिक संघर्ष का समाधान : संस्कृतियों का सम्मान एवं उत्तरदायित्व

डॉ. अतुल कुमार मिश्र

शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र)
उ0प्र0राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

हमारा कर्तव्य है कि हम अन्य संस्कृतियों या सभी संस्कृतियों को बराबर सम्मान दें। हम इसे प्रायः यह समझ लेते हैं कि इसका तात्पर्य है कि हम अन्य व्यक्तियों का सम्मान करें। लेकिन इसमें अन्य चीजें जैसे–दूसरे की स्वायत्तता का सम्मान करना, इच्छानुसार जीवन को चलाने के अधिकार का सम्मान करना भी आता है। हालांकि यह हमारे उस अधिकार को नहीं छीनता जिसमें हम अन्य जीवन पद्धतियों का विश्लेषण कर उनकी आलोचना करते हैं। उनके अच्छे बुरे पहलुओं को उजागर करते हैं। हमारा यह विश्लेषण उनके विचार धरातल पर आधृत सहानुभूति परक समझ पर आधारित होना चाहिए, नहीं तो अपनी एकांगी विचारधारा से हम उनके साथ न्याय नहीं कर पायेंगे।[1]

इस संदर्भ में संस्कृति के दो आयाम हैं पहला, समुदाय जिससे वह संस्कृति सम्बन्धित है एवं दूसरा उस संस्कृति की सामग्री (कन्टेन्ट) एवं चरित्र। अतः किसी संस्कृति का सम्मान करना, उसके समुदाय के अधिकारों एवं उस संस्कृति की सामग्री और चरित्र का सम्मान करना है। इन दोनों आयामों को सम्मान देने के अलग–अलग आधार हैं। हम प्रथम आयाम का सम्मान करते हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह कैसी जीवन शैली अपनाएगा जो कि उसको उसके इतिहास एवं पहचान से जोड़ती हो। प्रत्येक समुदाय को अपनी विशिष्ट संस्कृति का पालन करने का अधिकार मिलना मिलना ही चाहिए। यहां असमानता का कोई भी आधार नहीं होना चाहिए।

जब हम संस्कृति की बात करते हैं तो इसका सम्मान इस मूल्यांकन पर आधारित होता है कि वह इसके सदस्यों को जीवन का कितना अच्छा आकार प्रदान करती। मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी है उसका विकास अपने सांस्कृतिक अतीत की समृद्धियों को ही आत्मसात कर लेने से ही होता है।[2] चूंकि प्रत्येक संस्कृति मानव–जीवन को स्थायित्व एवं अर्थ देती है उसके सदस्यों को बांधे रखती हैं सृजनात्मक ऊर्जाओं को प्रदर्शित करती है। मानव के विभिन्न अभिवृत्तियों को कलाओं के माध्यम से शान्त करती है इसलिए संस्कृति को सम्मान मिलना ही चाहिए हालांकि किसी संस्कृति के सावधानी पूर्वक एवं सहानुभूति पूर्ण परीक्षण के बाद हम पा सकते हैं कि कोई संस्कृति जीवन पद्धति की जो सम्पूर्ण गुणवत्ता हमें देती है, वह पर्याप्त नहीं है तथा वह वांछनीय गुणवत्ता से कमी रखती है तो हमें उसे अन्य लाभ परक संस्कृतियों की अपेक्षा कम सम्मान देने लगते हैं। परन्तु सभी संस्कृतियां आधारभूत सम्मान की मांग करती हैं क्योंकि प्रत्येक में कुछ न कुछ खास मूल्यवान पहलू जरूर होते हैं। लेकिन सभी संस्कृतियां सभी के

लिए एक समान मूल्यवान एवं गुणवत्तायुक्त नहीं हो सकती है। हमें संस्कृति का मूल्यांकन करते समय सिर्फ अपने ही दृष्टिकोण से उसका परीक्षण नहीं करना चाहिए, बल्कि सार्वभौमिक आधारों पर उसकी जीवन शैली को तौलना चाहिए। यदि कोई सांस्कृतिक समुदाय मानवीय मूल्य और अस्मिता को आदर देता है, उसके संसाधनों के आधार पर मूलभूत मानवीय हित की रक्षा करता है अन्य समुदाय के लोगों को किसी प्रकार की कोई धमकी नहीं देता है उसके सदस्य अपनी संस्कृति के गौरव में निष्ठा रखते हैं और इस कारण सद्जीवन को प्राप्त करने के लिए सभी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति वह संस्कृति करती है तो निश्चय ही वह संस्कृति की आदरणीय है।

जो यह मानते हैं कि कुछ संस्कृतियां श्रेष्ठ होती हैं और अपने मूल्य को अन्य संस्कृतियों में आरोपित करना उनका अधिकार होता है वह समुदाय के उस अधिकार का हनन करते हैं जो उन्हें अपनी मान्यताओं और मूल्यों को चुनने के लिए मिलती है।

वस्तुतः किसी भी समुदाय की सदस्यता उसके प्रति उत्तरदायित्व की मांग करती है। सांस्कृतिक समुदाय भी इससे अछूता नहीं है। यह उत्तरदायित्व प्रश्न खड़ा करता है कि क्या संस्कृति के प्रति जवाबदेही है? हाल के वर्षों में कई लेखकों ने विशिष्ट या रोष या तीखेपान के साथ इस प्रश्न को उठाया है। द सटैनिक वर्सेज की प्रकाशन के बाद एडवर्ड ने सलमान रुश्दी की आलोचना की क्योंकि उन्होंने अपने समुदाय के जन्मजात ज्ञान का प्रयोग पश्चिम के पक्षपात पूर्ण मुस्लिम विरोधी भावना को पुष्ट करने के लिए किया। श्वेत लोगों के सांस्कृतिक एवं नस्लीय भेदभाव को बढ़ावा देने के लिए भी कई अफ्रीकी मूल के अमेरिकियों पर भी धोखेबाजी एवं संस्कृति से विद्रोह करने का आरोप लगाया जाता है। जो अपनी समुदाय की मान्यताओं के लिए खड़े नहीं हुए या फिर दूसरे खेमे में चले गये।

जैसा कि हम देखते हैं कि सांस्कृतिक समुदाय के दो आयाम हैं पहला सांस्कृतिक एवं दूसरा सामुदायिक जब हम सांस्कृतिक समुदाय के प्रति उत्तरदायित्व एवं वफादारी की बात करते हैं तो हमारा आशय दोनों आयामों से होता है।

प्रथम दृष्टया, संस्कृति के प्रति उत्तरदायित्व या जवाबदेही का विचार विचित्र लगता है क्योंकि यह स्पष्ट नहीं है कि निर्वैयक्तिक या अमूर्त संकल्पना संस्कृति के साथ मनुष्य का नैतिक सम्बन्ध कैसा हो सकता है। परन्तु जितना विचित्र यह दिखता है उतना है नहीं। हम प्रायः वैज्ञानिकों एवं कलाकारों की उनके विज्ञान एवं कला के प्रति कर्तव्य की बात करते हैं। इसका तात्पर्य है कि उन्हें सम्बन्धित उत्तरदायित्व की केन्द्रीय धारणा एवं मूल्यों के प्रति निष्ठावान रहना चाहिए।[3] एक वैज्ञानिक को सत्य का अनुसरण एवं प्रमाणों का औचित्यपूर्ण परीक्षण करना चाहिए। वहीं कलाकार को कल्पना के निर्भय अभ्यास एवं कलात्मक सत्य के प्रति जागरूक रहना चाहिए। इसी प्रकार धार्मिक लोग धर्म के सिद्धांतों के प्रति एवं उदारवादी, उदारवादी परम्परा के सिद्धांतों एवं मूल्यों के प्रति वफादार रहने की बात करते हैं। इसी अर्थ में संस्कृति के प्रति उत्तर दायित्व का तात्पर्य है कि संस्कृति से सम्बन्धित जीवन पद्धति के घटक जैसे मूल्यों, आदर्शों, महत्व और अर्थ की व्यवस्थाओं नैतिक एवं आध्यात्मिक संवेदनाओं के प्रति अपने विश्वास को अडिग रखना।

प्रश्न उठता है कि इस उत्तरदायित्व के आधार की सामग्री क्या है? जैसा कि हम जानते हैं कि संस्कृति हमारे जीवन को गति प्रदान करती है। संसाधनों का उपयोग करना सिखाती है, हमारे व्यक्तित्व को स्थिरता प्रदान करती है। इसके मूल्य एवं आदर्श हमें प्रेरित करते हैं। यह परम्पराएं, गीत कहानियां, साहित्य एवं संगीत हमारे जीवन में खुशियों और आनन्द के रंग भरते हैं। यह हमारे जीवन को पग पग पर निर्देशित करते है और नैतिक एवं आध्यात्मिक बुद्धि प्रदान करके हमें जीवन के कठिन समय में स्थिर रहना सिखाती है।[4] यह सब इंगित करता है कि हमारी संस्कृति ने हमारे लिए क्या–कुछ किया है। हम यह भी कह सकते हैं कि इसके आदर्शों सौन्दर्यात्मक आध्यात्मिक विश्वासों एवं अन्य गतिविधियों एवं उपलब्धियों ने मानव जीवन के मूल्यवान दृष्टिकोण को प्रदर्शित किया है जो कि मानवता के सांस्कृतिक और नैतिक पूंजी को समृद्ध करता है।

इस कारण हम सोच सकते हैं कि संस्कृति के प्रति हमारी वफादारी इसलिए होनी चाहिए क्योंकि हमारे जीवन में असीम योगदान दिया है और शायद इस कारण भी कि इसका एक सार्वभौमिक मूल्य है। अगर हमें लगता हो कि कोई संस्कृति मूल्यहीन है, उसके आदर्श अत्यधिक उत्पीड़क हैं, हमें अच्छा जीवन जीने की कला सिखाने के लिए उसके पास मूल्य नहीं है वह हमारे बौद्धिक एवं नैतिक एवं बौद्धिक विकास को अवरुद्ध कर सकती है तो हमारी वफादारी निश्चित रूप से उसके प्रति कमजोर होगी। (कोई भी संस्कृति पूर्णतः मूल्यहीन नहीं हो सकती।) लेकिन यदि हमारी संस्कृति मानव जीवन को सवंर्द्धित करने के लिए संसाधनों का उचित प्रयोग बताती है, मानवीय संबंधों को मजबूत करती है इसके सदस्यों के मध्य सत्य, विश्वास को आदि स्थापित करती है एवं सद्‌गुण तथा शुभ के स्रोत के रूप में है तो निश्चित तौर पर उसके प्रति हमारी जवाबदेही बनती है।

यदि हमारी संस्कृति औचित्यपूर्ण या न्यायपूर्ण तरीके से समृद्ध है तो हमारा कर्तव्य है कि हम उन महान पुरुषों की स्मृतियों को हृदय में संजोए जिन्होंने इसके निर्माण में अपना योगदान दिया और जिन्होंने लम्बे समय के दौरान इसे बनाए रखा। इसके पवित्र आदर्शों का विस्तार एवं प्रदर्शन करें जिसमें कि कृतज्ञता की एवं सांस्कृतिक विरासत के लिए प्रतिबद्धता का समर्पित भाव हो। हमारा यह भी कर्तव्य है कि हम इसका संवर्द्धन करें एवं आगामी पीढ़ियों को इसकी मूल्यवान बातें समझाएं एवं गलत व्याख्यायित या समझे जाने वाली मान्यताओं का उचित तर्कों के साथ समाधान करें। इसके अलावा संस्कृति को तोड़ने वाली एवं आघात पहुंचाने वाले कुत्सित प्रयासों से भी इसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। विचारणीय है कि हमें अपनी सांस्कृतिक विरासत के समृद्ध मूल्यों को दूसरी संस्कृति से कमतर समझकर जल्दबाजी में त्यागना नहीं चाहिए संस्कृति के प्रति उत्तरदायित्व में संसाधनों को उजागर करना, मजबूत करना एवं पुष्ट करना एवं उसकी खामियों को दूर करना भी सम्मिलित है। कोई भी संस्कृति पूर्ण नहीं है वह तो विश्वासों एवं नियमित क्रिया कलापों की एक व्यवस्था है जो कि कुछ मूल्य और आदर्श लोगों के लिए प्रस्तुत करती है। किसी संस्कृति से प्रेम करने का आशय उसकी समृद्धि की कामना करना है जिसमें कि उसकी आलोचना करना एवं दोषों का परिमार्जन करना भी सम्मिलित है।

समुदाय के प्रति उत्तरदायित्व की अवधारणा सामान्यतः सुनने में आती है। यह आदर्शों, मूल्यों एवं अन्य सांस्कृतिक घटकों के प्रति वफादारी नहीं है बल्कि उन पुरुषों एवं महिलाओं के प्रति है जिन्होंने समुदाय का निर्माण किया है। प्रायः हम अपने परिवार, विद्यालय, राजनीतिक एवं धार्मिक समुदाय के प्रति उत्तरदायित्व की भावना रखते हैं। हम उनके प्रति आभारी हैं क्योंकि यह सब हमें सहयोग, घनिष्ठता, नैतिक एवं भावनात्मक संसाधनों तथा मूलाधारों की संवेदनाओं की एक संरचना प्रदान करते हैं जो हमारे विभिन्न कार्यों में हमारी सहायता करते हैं। चूंकि संस्कृति किसी समुदाय द्वारा ही संरक्षित की जा सकती है इसलिए हम संस्कृति को जीवन्त रखने के लिए भी समुदाय के ऋणी रहते हैं। हमारी वफादारी की भावना उस समय और प्रबल हो जाती है जब बाहरी धमकियों या आक्रमणों या चिंताओं से किसी समुदाय के विखण्डन का खतरा पैदा होता है। जैसा कि यातनादायी एवं पीड़ादायी अनुभवों को यहूदियों ने विनाशकारी संहार के वक्त सहा था। इसी कारण आगे चलकर उनके कर्तव्यों में एक नया आयाम जुड़ा कि उन्हें लाखों लोगों जो कि मृत्यु को प्राप्त हुए थे, की स्मृतियों को तथा उनके मध्य घनिष्ठता को हृदय में संजोए रखना होगा।

एक वैज्ञानिक को सत्य का अनुसरण एवं प्रमाणों का औचित्यपूर्ण परीक्षण करना चाहिए। वहीं कलाकार को कल्पना के निर्भय अभ्यास एवं कलात्मक सत्य के प्रति जागरूक रहना चाहिए। इसी प्रकार धार्मिक लोग धर्म के सिद्धांतों के प्रति एवं उदारवादी, उदारवादी परम्परा के सिद्धांतों एवं मूल्यों के प्रति वफादार रहने की बात करते हैं। इसी अर्थ में संस्कृति के प्रति उत्तर दायित्व का तात्पर्य है कि संस्कृति से सम्बन्धित जीवन पद्धति के घटक जैसे मूल्यों, आदर्शों, महत्व और अर्थ की व्यवस्थाओं नैतिक एवं आध्यात्मिक संवेदनाओं के प्रति अपने विश्वास को अडिग रखना।

सांस्कृतिक संस्था, राजनीतिक दलों, दबाव समूहों आदि की तरह स्वैच्छिक संगठन नहीं है यदि इसे ऐसा समझा जाता है तो यह भ्रामक है। सांस्कृतिक समुदाय मानव की सृजनात्मकता नहीं है बल्कि संघर्षों एवं उपलब्धियों की लम्बी सामूहिक स्मृतियों एवं सुस्थापित व्यवहारों की परम्पराओं से युक्त ऐतिहासिक समुदाय है। हम इनसे जुड़ते नहीं बलिक इनमें पैदा होते हैं। हम इनके सदस्य नहीं बल्कि भाग होते हैं। हमारे संगठन की पहचान निर्वाचन से होती है जबकि सांस्कृतिक पहचान हमें विरासत में मिलती है।

सांस्कृतिक संगठन मानव–जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करता है जो कि स्वैच्छिक संगठन कभी नहीं कर सकते। यह इसके सदस्यों को अस्तित्व परक स्थायित्व, प्राचीन एवं आधुनिक उद्‌गम की भावनाओं से जुड़ाव संचार की सरलता एवं अन्य लाभ प्रदान करती है। हमारे जीवन में स्वैच्छिक संगठनों एवं सांस्कृतिक समुदाय दोनों का पूरक स्थान है और मानवीय ज्ञान तथा मेधा तभी उभरकर सामने आयेगी जब ये दोनों सहभागी होकर कार्य करेंगे।

किसी सांस्कृतिक समुदाय के प्रति वफादारी कुछ कर्तव्यों की ओर इंगित करती है जो कि संस्कृति के प्रति वफादारी के कर्तव्यों से भी मेल खाती है या समानता रखती है। यह कर्तव्य किसी समुदाय के सदस्यों के प्रति होती है न कि संस्कृति के आदर्शों के प्रति। यह वफादारी तब भी रहती है जब हम किसी संस्कृति को अस्वीकार कर देते हैं। नियमों– कानूनों,

परम्पराओं, मूल्यों, व्यवहारों की संरचना, जो कि किसी समुदाय की रचना करती है, एक लम्बी अवधि में निर्मित होती है। हम उसे प्राप्त करते हैं, लाभान्वित होते हैं और उसका परिवर्धन करते हैं। अपने निहित स्वार्थों के लिए समुदाय को चोट पहुंचाना एक घृणित कार्य है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम विभिन्न आक्षेपों और गलत व्याख्याओं का उत्तर निर्भीकतापूर्वक आलोचनाकारों को दें। समुदाय के प्रति हो रहे अन्याय के प्रति लड़ना और न्याय दिलाना भी हमारा कर्तव्य होता हैं महात्मा गांधी अपने समुदाय से अत्यंत प्रेम करते थे इसलिए वह अस्पृश्यता, बाल विवाह एवं जाति–विभेद आदि सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के लिए प्रतिबद्ध थे। हमारा भी उत्तरदायित्व अपने समुदाय की प्रचलित लाभकारी परम्पराओं को पुष्ट करना व हानिकारक विश्वासों को उन्मूलित करना होना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. Storey Jhon : What is Cultural Studies? A Reader. Bloomsbury Academic, 1996, Page - 247
2. डॉ. देवराज : दर्शन धर्म अध्यात्मक और संस्कृति, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005। (पेज– 170)
3. Parekh Bhikhu, Rethinking Multiculturalism- Cultural Diversity and Political Theory, Palgrave Macmillan, 2005. Page-145-46.
4. डा.कार्टन डेविड सी : जब दुनिया में निगमों का राज चले, आजादी बचाओ आन्दोलन प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पेज 235

डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम के शैक्षिक विचार

कृपा शंकर यादव

असिस्टेन्ट प्रोफेसर
बी0एड0 विभाग
रघुवीर महाविद्यालय
थलोई, भिखारीपुर कलॉ जौनपुर

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम का जीवन प्रत्येक उस व्यक्ति के लिये अनूठा उदाहरण है जो जीवन में कुछ बनना चाहता है, करना चाहता है और उसमें उस काम को करने की लगन और योग्यता है। भले ही वह गरीब हो और किसी भी पिछड़े स्थान से सम्बन्ध रखता हो। शुरू में डॉ0 कलाम रामेश्वरम् में रहते थे जो कि तमिलनाडु का एक छोटा सा कस्बा है, लेकिन इनकी प्रतिभा और इनके आत्मबल ने इन्हें रामेश्वरम से निकालकर भारत के राष्ट्रपति पद पर आरूढ़ कर दिया।

तमिलनाडु के रामेश्वरम् के निकट धनुषकोडि नामक ग्राम में जन्में डॉ0 कलाम ने मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी से वायु इंजीनियरिंग में विशेषज्ञता प्राप्त की। महान वैज्ञानिक, एक अच्छे और सच्चे इन्सान डॉ0 अब्दुल कलाम का जन्म 15 अक्टूबर 1931 ई0 में तमिलनाडु के धनुषकोडि नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम श्री जैनुलाबद्दीन तथा माता का नाम आशियम्मा था। डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम कुछ के लिए 'मिसाइल पुरूष' है तो कुछ के लिए भारतीय वैज्ञानिक विकास के स्वप्न दृष्टा। लेकिन इनकी राष्ट्रभावना और देश के प्रति इनकी श्रद्धा, आस्था और निष्ठा को देखते हुए इन्हें सौ प्रतिशत भरतीय कहा जाता है। डॉ0 कलाम का जीवन इतना सरल और संस्कारपूर्ण रहा है कि वह किसी भी उन्नति करने वाले बच्चे के लिए खुला आदर्श है। सरलता, सहजता और भावात्मक आत्मीयता, डॉ0 कलाम को अपने माता–पिता से विरासत में मिली थी।

डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम पहले एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक इंजीनियर बने और इन्होंने अपनी इस भूमिका को बखूबी निभाते हुए भारत को उन्नत देशों के समूह में सबसे आगे खड़ा करने के लिए प्रक्षेपण यानों तथा मिसाइल प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने नदी, 'हावर क्राफ्ट' का निर्माण करके अपनी प्रतिभा दिखा दी। इनके अथक प्रयास से 18 जुलाई 1980 को सुबह आठ बजकर तीन मिनट पर श्री हरिकोटा राकेट प्रक्षेपण केन्द्र से एस0एल0बी0–3 ने उड़ान भरी और 'रोहिणी' धरती की कक्षा में स्थातिप हो गया। पूरा देश इस पहले स्वदेशी उपग्रह की सफलता से गद्गद हो गया। यह सब कलाम का अतुलनीय परिश्रम तथा त्याग का नतीजा था। इसलिए इनको राष्ट्रीय हीरों माना जाने लगा।

डी0आर0डी0एल0 के निदेशक के रूप में श्री कलाम साहब ने कई हैरतअंगेज काम किये, जिससे बाहरी देश भी इनकी प्रतिभा का लोहा मान गये। यह कलाम साहब के प्रयासों

का ही प्रतिफल है कि 'पृथ्वी, 'त्रिसूल', आकाश, 'नाग' तथा अग्नि के उड़ान परीक्षणों ने रक्षा तैयारी में आत्मनिर्भरता की ओर स्वदेशी योग्यता सत्यापित की। 11 और 13 मई, 1988 को प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी के कार्यकाल में पोखरण परमाणु परीक्षण कर डा0 कलाम ने भारत को परमाणु सम्पन्न देशों की श्रेणी में ला खड़ा किया।

डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम ने जो इस देश के लिये किया, उसके लिये कोई भी पुरस्कार बहुत कम हैं अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में उस समय जो सम्मान मिला, वह डॉ0 कलाम की देन है। इसलिए इन्हें अनगिनत पुरस्कार मिलें, जिनमें शामिल है– इंस्टीट्यूटशन ऑफ इंजीनियर्स का नेशनल डिलाइन एवार्ड (1980), आर्यभट्ट पुरस्कार (1994), राष्ट्रीय एकता के लिये इन्दिरा गांधी पुरस्कार (1997) तथा 1997 में ही ''भारत रत्न'' के सम्मान से विभूषित हुए। 25 जुलाई सन् 2002 को डा0 कलाम ने भारत के राष्ट्रपति पद की शपथ ली।

शिक्षा का अर्थ–

डॉ0 कलाम के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय यह है, जो शिक्षा योग्य न बनाये, समानता न सिखाये और नैतिकता का बोध न करायें वह शिक्षा नहीं है। इनके अनुसार राष्ट्रीय और मानवीय शिक्षा घर से प्रारम्भ होनी चाहिए, जहाँ बच्चे अपने सम्बन्धियों से प्रेम करना सीखें और बाद में समाज के सदस्य बनकर अपने छोटे से प्रेम को विश्वप्रेम में बदल दें।

वे शिक्षा का ऐसा स्वरूप चाहते हैं जो मानव मात्र का हित एवं संरक्षण करती हो, शिक्षा बोधगम्य, शक्तिदायिनी और समता स्नेह प्रकाशिनी होनी चाहिए। शिक्षा के लिए लगन और साधना की आवश्यकता बताते हुए अपने समाज की समता, पेट की रोटी और ज्ञान की तृप्ति ही सही अर्थों में शिक्षा है। यदि इस प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती है तो केवल वह डिग्री धारी शिक्षा होती है जो अपाहिजों की भीड़ पैदा करती है। इस प्रकार उनके अनुसार ''सर्वोच्च शिक्षा वह है जो हमारे जीवन और समस्त सृष्टि के बीच समरसता स्थापित करती है। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य मानवमत तथा आत्मा की शक्तियों का निर्माण तथा विकास है।''

जीवन उद्देश्य–

1. **मानसिक एवं बौद्धिक विकास** –शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है बालक का मानसिक एवं बौद्धिक विकास।
2. **चारित्रिक एवं नैतिक विकास** –शिक्षा द्वारा मनुष्य के चारित्रिक एवं नैतिक विकास पर बल दिया जाता हैं, इन्होंने चारित्रिक एवं नैतिक विकास को मुक्ति का साधन माना है।
3. **यथार्थ ज्ञान का विकास** –शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य है– ''यथार्थ ज्ञान प्रदान करना।''
4. **विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास–** शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी है कि वह व्यक्ति में विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास करें।
5. **अन्तर्निहित शक्तियों का पूर्ण विकास–** डॉ0 कलाम के अनुसार सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य मनुष्य का सम्पूर्ण निर्माण है। सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का उस क्षेत्र में पूर्ण विकास। जिस अभ्यास से मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रवाह और प्रकाश संवामित होकर फलदायी बन सके उसी का नाम शिक्षा है, वे सभी क्षेत्रों में मनुष्य बनाने वाली शिक्षा ही चाहते है।

शिक्षा सिद्धान्त–

डॉ0 कलाम के कुछ दार्शनिक सिद्धान्त निम्न प्रकर है जो कि हर किसी के लिये महत्वपूर्ण है–

1. जो लोग जिम्मेदार, सरल, ईमानदार, तथा मेहनती होते हैं, उन्हें ईश्वर द्वारा विशेष सम्मान मिलता है क्योंकि इस पृथ्वी पर मानव ईश्वर की श्रेष्ठ रचना है।
2. कम से कम दो गरीब बच्चियों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए इनकी शिक्षा प्राप्ति में मदद करें।
3. दूसरों का आशीर्वाद प्राप्त करो, अपने माता–पिता की सेवा करो, शिक्षकों का आदर करो और अपने देश से प्रेम करो।
4. ईश्वर की सभी रचनाओं से प्रेम करो।
5. धैर्य तथा सहिष्णुता शक्ति है। उसे खोने मत दो।
6. प्रकृति से सीखों, जहाँ सब कुछ छिपा हुआ है और अपने जीवन को उद्देश्यपूर्ण तथा अर्थपूर्ण बताओं।
7. सरलता तथा परिश्रम का मार्ग अपनाओं, जो सफलता का एक मात्र रास्ता है।
8. ये आँखे इस दुनिया को फिर नहीं देख पायेंगी, अपना बेहतरीन देने का प्रयास करो।
9. अपने जीवन में उच्चतम तथा श्रेष्ठतम लक्ष्य रखे और उसे प्राप्त करो।
10. ईश्वर हमारे साथ है जो कोई भी हमारे खिलाफ नहीं हो सकता है।

पाठ्यक्रम–

डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम के अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए कि जो व्यक्ति के जीवन को वास्तविकता से जोड़ता हो तथा उन्होंने कहा है कि पाठ्यक्रम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से क्रमबद्ध सरल से जटिल रूप में बनाया जाय जिससे बच्चे पढ़ने में रूचि दिखायें। इन्होंने पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों को सम्मिलित किया है–

1. भाषा तथा साहित्य– मातृभाषा, अन्य भारतीय भाषायें, अंग्रेजी एवं अन्य।
2. गणित।
3. विज्ञान– रसायन, भौतिक, जीव–जन्तु विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान आदि।
4. सामाजिक विषय– अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि।
5. कला– संगीत, नृत्य अभिनय इत्यादि।
6. कृषि एवं तकनीक।
7. दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान आदि।

धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी विचार–

डॉ0 कलाम के अनुसार जो कहता है कि वह हिन्दू है, वह मुसलमान है और यह कहकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है वह हिन्दू और मुस्लिम दोनों से दूर जा पड़ता है। दोनों को निकट लाने में असमर्थ बनता है। कलाम महोदय कुरान एवं गीता दोनों का अध्ययन करते हैं वे किसी धर्म की बात नहीं करते बल्कि वे कहते है कि सूफी धर्मों का सार एक है और वह है ''मानव समाज का कल्याण'' करना।

शिक्षक तथा शिक्षार्थी के सम्बन्ध में विचार–

शिक्षक के सम्बन्ध में कलाम साहब का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। वह शिक्षक को समस्त गुणों से युक्त मानते है। उनके अनुसार शिक्षकों का व्यवहार मृदुल, प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण तथा क्षमावान होना चाहिए। उनका विचार है कि शिक्षार्थी, शिक्षक के आचरण एवं मनोभावों से बहुत कुछ सीखते हैं। अतः शिक्षक को ज्ञानी, चरित्रवान और आदर्श आचरण वाला होना चाहिए। उसे छात्रों को सदा उत्साहित करते रहना चाहिए तथा छात्रों की समस्याओं के समाधान में सहायता करनी चाहिए।

शिक्षा का अभिप्राय यह है, जो शिक्षा योग्य न बनाये समानता न सिखाये और नैतिकता का बोध न करायें वह शिक्षा नहीं है। इनके अनुसार राष्ट्रीय और मानवीय शिक्षा घर से प्रारम्भ होनी चाहिए, जहाँ बच्चे अपने सम्बन्धियेां से प्रेम करना सीखें और बाद में समाज के सदस्य बनकर अपने छोटे से प्रेम को विश्वप्रेम में बदल दें।

डॉ0 कलाम के अनुसार ''सच्चा अध्यापक वही होता है जो अपने सम्पूर्ण जीवन से कुछ न कुछ सीखता रहता है।'' 'इमाम अल गज्जली' ने कहा है कि ''एक समर्पित अध्यापक उस दीपक की तरह होता है जो दूसरों को रोशनी देने के लिए स्वयं ही जल जाता है।''

शिक्षार्थी के सम्बन्ध में कलाम साहब का विचार है कि शिक्षार्थी को अपने प्रत्येक कार्य को ईमानदारी एवं परिश्रम से करना चाहिए तथा पढ़ाई के समय शिक्षार्थी को निन्दनीय, असभ्य तथा दोषपूर्ण बातों से दूर रहना चाहिए और ज्ञान पिपासु होना चाहिए।

बचपन में डॉ0 अब्दुल कलाम के ऊपर इनके माता–पिता, लक्ष्मण शास्त्रीगल और रेवफादर बोडाल का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उनके विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने कहा कि छात्र का कोई भी लक्ष्य/धर्म हो उसे श्रेष्ठ कर्म करते हुए प्राप्त करना चाहिए। इनका विचार है कि छात्रों को जीवन में स्वप्न देखने चाहिए, स्वप्न दृश्यों में बदल जाते हैं और ये दृश्य लक्ष्यों का आकार ले लेते है। छात्रों को लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उच्च स्तरीय नैतिक मूल्यों से युक्त सोच की आवश्यकता हैं जो व्यक्ति को शिखर पर पहुँचा देती है। छात्र को ज्ञान सभी स्रोतों से अर्जित करना चाहिए तथा लक्ष्य का उद्देश्य की प्राप्ति तक ईमानदारी तथा परिश्रम से कार्य करते रहना चाहिए।

कलाम साहब का विचार है कि महान अध्यापक वह है जो शिक्षण के दौरान प्रकृति में उपलब्ध सजीव व्यवहारिक उदाहरण को सैद्धान्तिक रूप से पाठ के साथ जोड़कर सरल रूप में छात्रों को पढ़ायें तथा छात्रों के समझ में आसानी से आ जाय। डॉ0 अब्दुल कलाम श्रेष्ठ अध्यापक उसे मानते है कि जो कि शिक्षण से प्रेम करता हैं और अपने छात्रों को ईमानदारी व मेहनत से पढ़ाने का कार्य करता है। उनका कहना है कि श्रेष्ठ शिक्षण तब होता है जब अध्यापक छात्रों में रचनात्मक शिक्षण, आदतों का विकास करता है और जीवन पर्यन्त ज्ञान की खोज के लिए प्रेरित करता है। उनका विचार है कि नैतिक शिक्षा की कक्षा छात्रों के लिए सप्ताह में एक से दो दिन अवश्य लगनी चाहिए जिससे छात्रों में नैतिक मूल्यों का विकास हो।

शिक्षक के सम्बन्ध में विचार–डॉ0 कलाम शिक्षक को जीवन का मार्गदर्शक मानते है। 5 सितम्बर 2006 के शिक्षक दिवस पर प्रतिभाशाली शिक्षकों को राष्ट्रीय पुरस्कार देते हुए कलाम साहब नें

उन्हें दस बिन्दुओं वाली एक शपथ दिलायी, जो निम्नलिखित हैं–

1. मैं शिक्षण को सबसे पहली और सबसे प्रमुख प्राथमिकता दूँगा। शिक्षण ही मेरे जीवन का उद्देश्य होगा।
2. मैं जानता हूँ कि मैं विद्यार्थी नहीं अपितु एक तेजस्वी युवा के निर्माण के लिए उत्तरदायी हूँ, जो इस धरती के नीचे धरती पर, और आकाश में सबसे अमूल्य शक्ति हैं, मैं शिक्षा के महान मिशन के प्रति पूरी तरह समर्पित रहूँगा।
3. मैं स्वयं को सर्वश्रेष्ठ अध्यापक तभी मानूंगा, जब मैं एक औसत विद्यार्थी को उत्कृष्ट विद्यार्थी बना सकूंगा।
4. मैं अपने विद्यार्थियों और बच्चों को प्रश्न पूँछने और जिज्ञासु बनाने के लिए प्रोत्साहित करूंगा ताकि वे रचनात्मक और प्रबुद्ध नागरिक बन सके।
5. मैं अपने सभी विद्यार्थियों के साथ एक समान व्यवहार रखूंगा और धर्म, जाति व भाषा का भेदभाव नहीं करूंगा।
6. मैं अपने शिक्षण को निरन्तर उन्नतम बनाता रहूँगा ताकि मैं अपने विद्यार्थियों को श्रेष्ठ शिक्षा प्रदान कर सकूं।
7. मैं समझता हूँ कि एक अध्यापक होने के नाते मैं राष्ट्रीय विकास के सभी प्रयासों में महत्वपूर्ण योगदान दूँगा।
8. मैं अपने मन को महान विचारों से परिपूर्ण रखने के लिए निरन्तर प्रयास करता रहूँगा और अपने विद्यार्थियों के विचारों और कार्यों में श्रेष्ठता लाऊँगा।
9. मैं सदैव अपने विद्यार्थियों की सफलता पर गौरवान्ति होऊँगा।

स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में विचार–

अब्दुल कलाम का स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में यह विचार है कि देश की हर एक लड़की शिक्षा प्राप्त करें। वे स्त्रियों को शिक्षा के लिए उत्साहित करते है तथा उनका कहना यह है कि स्त्री तथा पुरूष दोनों को समान शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

अनुशासन सम्बन्धी विचार–

डॉ0 कलाम साहब 'कठोर और यातनापूर्ण' अनुशासन के विरोधी है तथा वह आत्मानुशासन को ही सच्चा अनुशासन माते है' इन्होंने शिक्षा प्रणाली में स्वाभाविक अनुशासन का समर्थन किया है और इस प्रकार अनुशासन की स्थापना के लिए वह प्रेम, सहानुभूति, सद्भावना और सद्प्रेरणा को आवश्यक मानते है।

शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में विचार–

डॉ0 कलाम साहब का विचार है कि नैतिक शिक्षा की तरह बालक को शारीरिक शिक्षा अवश्य देनी चाहिए क्योंकि शारीरिक शिक्षा के बिना पूरी शिक्षा अधूरी लगती है। शारीरिक प्रशिक्षण से मन एवं शरीर को स्वस्थ्य एवं शक्तिशाली बनाया जाता है।

नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में विचार–

कलाम साहब का विचार है कि बालक के लिए नैतिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। बालक को सत्य बोलना, सही मार्ग पर चलना, माता–पिता की सेवा करना, गुरुओं का सम्मान करना, आदि की शिक्षा प्रदान करना चाहिए। नैतिक शिक्षा के द्वारा बालक के व्यक्तित्व में

निखार आ जाता है तथा वह सही गलत का निर्णय भी लेने लगता है।

शिक्षण विधि के सम्बन्ध में विचार–

डॉ0 कलाम ने प्रयोगात्मक शिक्षण विधि पर अधिक बल दिया है। उनका कहना है कि प्रयोगात्मक शिक्षण विधि से बालक जल्दी सीखता है तथा वह जल्दी नहीं भूलता है।

निष्कर्ष–

डॉ0 कलाम साहब के शैक्षिक विचारों का शिक्षा जगत में महत्वपूर्ण स्थान हैं। डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम वैज्ञानिक आधार पर मानव के सर्वांगीण विकास की बात करते है। इनके अनुसार शिक्षा वह है जो मानव में वैज्ञानिक सोच पैदा करे और बौद्धिक उन्नति प्रदान करें। इनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य समानता व बन्धुत्व पर आधारित मानवतावादी समाज का निर्माण करना है। ये वैज्ञानिक सृजनात्मकता, दृढ़ चरित्र के निर्माण को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानते है। डॉ0 कलाम पाठ्यक्रम में प्राकृतिक विज्ञानों, मानविकी विषयों के साथ ही कला तथा वैज्ञानिक विषयों को अधिक महत्व देते है। डॉ0 कलाम नैतिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा को अनिवार्य मानते है। इन्होंने वैज्ञानिक और प्रयोग आधारित शिक्षण विधियों को अधिक महत्व प्रदान किया है।

इस प्रकार विस्तृत विवेचना के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि छात्रों के सर्वांगीण विकास में अन्य भारतीय शिक्षाशास्त्रियों की तुलना में डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम की शैक्षिक विचार धारा अपने में पूर्ण है। अतः दोनों शिक्षाशास्त्री शिक्षा के द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास चाहते है तथा शिक्षा उसे मानते हैं जो कि मानव का सर्वांगीण विकास करें। इस तरह स्पष्ट है कि दोनों विद्वान विज्ञान, दर्शन, कला, स्त्री शिक्षा तथा शारीरिक शिक्षा का घोर समर्थन करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. सक्सेना एन0 आर0 स्वरूप– शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाज भारतीय सिद्धान्त, आर0 लाल बुक डिपो, मेरठ, 2006
2. गुप्त, राम बाबू– विश्व के महान शिक्षाशास्त्री, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा, 1992–93
3. जायसवाल, डॉ0 सीताराम– विश्व के कुछ महान शिक्षक, न्यू बिल्डिंग अमीनाबाद, लखनऊ, 1974
4. पाण्डेय हरिराम सकल– शिक्षा समीक्षा, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1988
5. सैयदन, डॉ0 के0जी0– भारतीय शैक्षणिक विचारधार, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1969
6. क्लाक डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल– विजयी भव, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली–प्रथम, 2008
7. कलाम, डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल– तेजस्वी मन, प्रभात प्रकाशन दिल्ली, 2008
8. गुप्ता, निधि– महामहिम, डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम, मारूती, प्रकाशन, दिल्ली रोड, मेरठ–2
9. कलाम, डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल– अग्नि की उड़ान (आत्मकथा), प्रभाव प्रकाशन, दिल्ली, 2008

प्राचीन से आधुनिक काल तक की स्त्रियों की शैक्षिक स्थिति का एक अध्ययन

श्रवण कुमार

सहायक आचार्य (बी.एड.), शिक्षक–शिक्षा संकाय
नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

मीनू पाण्डेय

शोधछात्रा (शिक्षाशास्त्र)
जे0आर0एफ0
शिक्षा संकाय, नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

शिक्षा आजीवन चलने वली प्रक्रिया है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगिण विकास करना है। शिक्षा से ही व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति तथा समाज का उत्थान होता है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने को समायोजित कर सकता है। शिक्षा के बिना व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता है अर्थात हम कह सकते हैं, अशिक्षित व्यक्ति पशुवत होता है। शिक्षा ही जीवन जीने की कला सीखाती है। चूँकि किसी भी बालक की प्रथम शिक्षिका माँ होती है। अतः उसका शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। माँ के व्यक्तित्व का सीधा प्रभाव बालक को प्रभावित करता है। अतः बालकों की शिक्षा के साथ–साथ बालिकाओं को भी श्किा का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए।

रेमाँट के अनुसार – ''सामान्य रूप से घर ही वह स्थान है जहाँ बालक अपनी माता से चलना, बोलना, मैं और तुम में अन्तर करना और अपने चारों ओर की वस्तुओं के सरलतम् गुणों को सीखता है।''

स्वामी दयानन्द के अनुसार – ''बालक–बालिकाओं को सर्वप्रथम शिक्षा माता के द्वारा ही दी जायेगी, इसलिए माताओं को सभी प्रकार से शिक्षित और योग्य होना चाहिए।''

इतिहास साक्षी है कि विभिन्न संस्कृतियों के निर्माण एवं संरक्षण में नारी का महत्वपूर्ण योगदान है। स्त्री की भूमिका किसी भी परिवार को सवारने एवं सजाने की होती है। स्त्रियाँ ही घर–परिवार में संस्कार व सुसंस्कृति की आधारशीला रखती हैं। अतः स्त्री की शिक्षा के लिए व्यक्ति एवं समाज को अत्यधिक सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। इसलिए स्त्रियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध समाज एवं राष्ट्र को अपनी नैतिक जिम्मेदारी समझते हुए करना चाहिए।

भारत में सदैव नारियों को सम्मान दिया जाता रहा है। शिक्षित नारी ही परिवार व समाज के विकास में सहायक होती है। मनु ने ठीक ही कहा है, ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'' जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहीं देवताओं का निवास माना जाता है। स्त्री देश की संस्कृति, धर्म, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान की आधारभूत स्तम्भ होती है। नारी ने विभिन्न रूपों में अपने महत्व को सदैव प्रदर्शित किया है। माता के रूप में वह भावी नागरिकों का निर्माण करती

है। बालक का सर्वप्रथम सामाजीकरण माता के सानिध्य में ही प्रारम्भ होता है। यदि स्त्री शिक्षित नहीं है तो वह अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन उचित रूप में नहीं कर सकेगी। सुशिक्षित स्त्रियाँ सदैव ही पुरूषों के समकक्ष अपने महत्व को स्थापित की हैं।

(1) स्वतंत्रता से पूर्व स्त्रियों की शैक्षिक स्थिति –

भारतीय इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारत प्राचीन काल से ही शैक्षिक, राजनैतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में अन्य देशों से अग्रणी रहा है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति के अन्दर चारित्रिक एवं नैतिक मूल्यों का अच्छी तरह से विकास किया जा सकता है। राष्ट्र के निर्माण में स्त्रियों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। प्राचीन काल में स्त्रियों को समाज में अत्यधिक सम्मान प्राप्त था तथा उन्हें भारतीय समाज में देवी की संज्ञा से विभूषित किया जाता था।

प्राचीन काल की शिक्षा व्यवस्था को देखने से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था संतोषजनक थी। वैदिक काल में कन्याओं का विवाह बहुत शीघ्र कर दिया जाता था। इस काल में स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था अत्यधिक सुदृढ़ थी। स्त्रियां गृहकार्यों के साथ–साथ कृषि, कताई, बुनाई तथा सिलाई इत्यादि कार्यों में दक्ष होती थी। स्त्रियों को गृहकार्य के अतिरिक्त नृत्य, गायन एवं वादन की शिक्षा प्रदान करने की पूरी व्यवस्था थी। वैदिक सभ्यता के अनुसार स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था। प्राचीन ग्रन्थों में जैसे ऋग्वेद में लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, विरूवारा, निवावरी आदि विदुषी स्त्रियों के नामों का उल्लेख बहुत ही सम्मान के साथ वर्णित किया गया है। उस काल की स्त्रियों को यज्ञ तथा वेद का अध्ययन करने का पूरा अधिकार प्राप्त था।

(i) वैदिक काल :–

वैदिक काल में स्त्रियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था। स्त्रियों को घर के कार्यों में निपूण होने के साथ ही गायक, वादक, ललित कला इत्यादि की शिक्षा में भी शिक्षित होना आवश्यक था। वैदिक काल में स्त्रियों के लिए शिक्षा व्यवस्था घर पर ही की जाती थी। वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने तथा यज्ञ करने का अधिकार पुरूषों के समान ही प्राप्त था।

मनु के अनुसार –''माता–पिता का कर्तव्य है कि विवाह से पूर्व वे बालिका को सर्वांग शिक्षा के साथ ही उन्हें ललित कलाओं की शिक्षा अवश्य प्रदान करनी चाहिए।''

रामायण तथा महाभारत काल में स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था अत्यधिक सुदृढ़ थी। प्रमाण स्वरूप यह परिलक्षित होता है कि माता कौशल्या द्वारा यज्ञ का आयोजन किया गया था जबकि माता सीता प्रतिदिन वैदिक मंत्रों का उच्चारण करती थी। पाण्डवों की माता कुन्ती अर्थवेद के मन्त्रों का पाठ करती थी एवं राजा जनक सुलोमा नाम की भिक्षुणी के साथ दार्शनिक विचार–विमर्श करते थे। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा ही बोलचाल की आम भाषा थी। संस्कृत भाषा का प्रयोग वेदों एवं धर्मग्रन्थों में किया गया था।

अतः निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि वैदिक काल की शिक्षा व्यवस्था में स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान रखा गया था। प्रमाण स्वरूप ऋग्वेद में हमें अपाला, इन्द्राणी, उर्वशी,

सावित्री एवं सामवेद के नोपायना, नोधा, सिक्ता, निवावरी आदि ऋषिकाओं के नाम बहुत ही सम्मान से वर्णित है।

(ii) बौद्ध काल :–

प्राचीन वैदिक धर्म में छठी शताब्दी ई0 पूर्व तक अनेकों प्रकार के दोष धर्म, जाति एवं क्षेत्र के नाम पर उत्पन्न हो गये थे। धर्म एवं कर्मकाण्डों के नाम पर पशु बलि इत्यादि की कुप्रथा का प्रचलन समाज में व्याप्त हो गया था। वर्ण व्यवस्था का रूप पूरी तरह से बिगड़ चुका था। सामाजिक संरचना कुप्रथा के कारण बुरी तरह प्रभावित थी। आम जनमानस इस व्यवस्था से पूर्णतया व्यथित हो चुकी थी। इस समय भगवान बुद्ध का अवतरण हुआ। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म की नींव रखी। महात्मा बुद्ध ने जातिवाद एवं छुआ–छुत के भेदभाव को समाप्त करने के लिए बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया। गौतमबुद्ध ने लोगों को ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रेरित किया तथा अहिंसा, सदाचार एवं चारित्रिक जीवन जीने का उपदेश दिया। बौद्धकालीन शिक्षा व्यवस्था में 8 वर्ष के बालक एवं बालिकाओं के शिक्षा का प्रारम्भ पबज्जा संस्कार से प्रारम्भ होता था। बालक एवं बालिकाओं को धार्मिक शिक्षा के साथ ही विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। 20 वर्ष की आयु के बालक एवं बालिकाओं का ''उपसम्पदा संस्कार'' किया जाता था। इस आयु वर्ग के बालक एवं बालिकाएँ भिक्षु एवं भिक्षुणी कहलाते थे। इस आयु वर्ग के बालक एवं बालिकाओं की सामान्य शिक्षा इस समय समाप्त हो जाती थी।

गौतम बुद्ध के उपदेशों का प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र पर भी पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप बौद्ध कालीन शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात हुआ। बौद्ध शिक्षा प्रणाली, वैदिक शिक्षा प्रणाली से सर्वथा भिन्न थी परन्तु कुछ तथ्य वैदिक शिक्षा प्रणाली के समान ही थे। बौद्ध कालीन समाज में अम्बापाली, अनोपमा, उत्तमा, चंदा, समोधा इत्यादि स्त्रियों के नाम अनेकों प्रकार की रचनाएँ लिखने के लिए प्रसिद्ध है।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता हैं कि बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली में स्त्रियों की शिक्षा पर कोई पाबन्दी नहीं थी। बौद्धकालीन समाज में शिक्षित स्त्रियों की संख्या अत्यधिक थी।

(iii) मुस्लिम काल :–

भारत में मुस्लिम शासकों ने लगभग 500 वर्षों तक राज्य किया। भारत में मुसलमानों के आगमन से स्त्री शिक्षा का स्तर बिल्कुल ही गिर चुका था।

इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि मुस्लिम शासन काल में स्त्रियों की शिक्षा सीमित थी। मुस्लिम काल में राजघराने और उच्च परिवार की स्त्रियों के लिए ही शिक्षा की व्यवस्था थी, सामान्य परिवार की स्त्रियों के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं थी।

(iv) ब्रिटिश काल :–

ब्रिटिश काल में भी स्त्री शिक्षा के प्रति लोगों का दृष्टिकोण कुछ अच्छा नहीं रहा। ब्रिटिश काल की शिक्षा व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य मात्र नौकरी प्राप्त करने से था। सरकार की तरफ से स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में कोई विशेष रूचि नहीं दिखाई गई। स्त्रियों को केवल घरेलु कार्यों में संलिप्त करना ही लोगों का उद्देश्य बनकर रह गया। ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में पादरियों के द्वारा पहल की गई। अंग्रेजों के शासन काल में बालिकाओं का पहला

स्कूल रेवनेन्ड में सन 1818 ई. में स्थापित किया गया था। दूसरा स्कूल 'रामपुर' में 1819 ई0 में कैरे द्वारा स्थापित किया गया। इसके पश्चात् ''कलकत्ता धार्मिक जुवेनाइल सोसाइटी'' तथा विल्सन के द्वारा ''सेन्ट्रल स्कूल'' की स्थापना 1826 ई. में लड़कियों के लिए किया गया था।

सन् 1854 के ''वुड के आदेश पत्र'' में पहली बार स्त्री शिक्षा के प्रसार के लिए सभी संभव एवं सार्थक प्रयास किए गए। शिक्षा विभागों में अनेक स्थानों पर बालिकाओं के लिए प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा और प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की गई।

(a) हण्टर आयोग एवं स्त्री शिक्षा :–

हन्टर आयोग ने प्रथम बार 1882 ई. में महिलाओं की शिक्षा के लिए गहन विचार–विमर्श किया। इस आयोग ने महिलाओं की शैक्षिक स्थिति को देखकर निम्नलिखित सुझाव दिए –

1. बालक और बालिकाओं के विद्यालयों के लिए उचित अनुपात में धन की व्यवस्था की जाय तथा बालिका विद्यालयों को अधिक आर्थिक सहायता प्रदान की जाए।
2. बालिकाओं को साहित्यक विषयों की अपेक्षा व्यवहारिक विषयों की शिक्षा देने की सिफारिश की गई।
3. बालिकाओं की शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियां प्रदान करने की संस्तुति की गई तथा बालिकाओं के लिए छात्रावास की व्यवस्था की जाए।
4. महिलाओं को शिक्षण कार्य से जुड़ने हेतु अभिप्रेरित किया जाय, जिससे महिला–अध्यापिकाओं के माध्यम से बालिका शिक्षा को सुदृढ़ किया जा सके।
5. स्त्रियों को अध्यापन कार्य हेतु प्रोत्साहित करने के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना किया जाय।
6. बालिकाओं के लिए माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाए एवं माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि की जाए।

आयोग की संस्तुति के आधार पर तत्कालिन सरकार ने महिला विद्यालयों के लिए अनुदान देना प्रारम्भ किया। इस समय तक 12 स्त्री कालेज, 467 माध्यमिक विद्यालय और 5628 प्राथमिक बालिका विद्यालय स्थापित हो चुके थे। हन्टर आयोग के प्रयास के कारण ही ब्रिटिष काल में छात्राओं के लिए शिक्षा की व्यवस्था सुनिश्चित हो सकी थी।

(b) कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग एवं स्त्री शिक्षा–

भारतीय शिक्षा के इतिहास में ''कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग'' का महत्वपूर्ण स्थान है। इस आयोग का गठन सन् 1917 ई. को किया गया था। सैडलर के नाम पर गठित इस आयोग को 'सैडलर कमीशन' के नाम से भी जाना जाता है। स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में इस आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए –

1. कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्वाधान में 'स्पेशल बोर्ड ऑफ वीमेन्स एजूकेशन' की स्थापना की जाए। इस बोर्ड ने सिफारिश की कि स्त्रियों के लिए अलग से पाठ्यक्रम की संरचना की जाय एवं इस पाठ्यक्रम में स्त्रियों के लिए उपयोगी विषयों का समावेश किया जाय।

आयोग की सिफारिश के फलस्वरूप 1921 तक भारत में सात नये विश्वविद्यालयों को स्थापित किया गया। कॉलेजों में छात्राओं की संख्या 177 से बढ़कर 1,263 हो गयी। बालिकाओं को चिकित्सीय शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए के 1913 ई. में दिल्ली में लेडी हार्डिग मेडिकल कालेज स्थापित किया गया था।

2– स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में स्त्री शिक्षा की स्थिति :–

स्वतंत्रता मिलने के बाद नारी की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक स्थिति के सन्दर्भ में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। भारतीय संविधान में भारत के समस्त नागरिकों के लिए बिना किसी भेदभाव के समान न्याय, समानता, स्वधीनता तथा भातृत्व की भावना की घोषणा की गई। भारतीय संविधान में नारी को पुरूषों के समान बराबरी का दर्जा प्रदान करते हुए समानता का अधिकार प्रदान किया गया है। स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् विभिन्न आयोगों एवं समितियों द्वारा दिए गये विचारों को नीचे वर्णित किया जा रहा है–

(i) विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948) एवं स्त्री शिक्षा :–

स्वतंत्रता मिलने के पश्चात आम–जनमानस के अन्दर शिक्षा ग्रहण करने के प्रति अपार उत्साह था। परन्तु उस समय की उच्च शिक्षा व्यवस्था से शिक्षार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना सम्भव नही था, ऐसी परिस्थिति में उच्च शिक्षा का पुनर्संगठन करना अति आवश्यक हो गया था। इसको दृष्टिगत रखते हुए ''केन्द्रिय शिक्षा सलाहकार बोर्ड'' तथा ''अन्तर विश्वविद्यालय शिक्षा परिषद'' ने सरकार से एक अखिल विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग नियुक्त करने की संस्तुति की जो देश की आवश्यकताअें एवं समय की माँग के अनुरूप उच्च शिक्षा के उत्थान के लिए बहुमूल्य सुझाव प्रस्तुत कर सके। इस संस्तुतियों से प्रेरित होकर भारत सरकार ने 4 नवम्बर सन् 1948 को डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में ''विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग'' की नियुक्ति की। इस आयोग को डॉ. राधाकृष्णन आयोग के नाम से भी जाना जाता है। स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में राधाकृष्णन आयोग द्वारा दिए गये कुछ प्रमुख सुझाव–

1. स्त्रियों की शिक्षा का विस्तारीकरण किया जाय।
2. ऐसे कालेज जहाँ पुरूषों के साथ स्त्रियों को शिक्षा प्रदान की जा रही है, उस कालेज में स्त्रियों की आवश्यकतानुसार सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाय।
3. स्त्रियों के लिए पाठ्यक्रम संरचना उनकी रूचि, अभिरूचि एवं योग्यता के अनुसार निश्चित होनी चाहिए।
4. स्त्रियों और पुरूषों की शिक्षा व्यवस्था एक समान नहीं होनी चाहिए।
5. समान कार्य के लिए स्त्रियों को पुरूषों के समान वेतन दिए जाने की व्यवस्था की जाय।
6. स्त्रियों के लिए निर्मित पाठ्यक्रमों में गृह विज्ञान, अर्थशास्त्र, नर्सिंग, ललित कलाओं और शिक्षण–प्रशिक्षण कार्यक्रम की व्यवस्था की जाय।
7. सह–शिक्षा को प्रोत्साहन प्रदान किया जाए, जिससे शिक्षा पर आने वाले व्यय को कम किया जा सके।

(ii) माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952–53) एवं स्त्री शिक्षा :–

23 सितम्बर 1952 को मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. ए. लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में ''माध्यमिक शिक्षा आयोग'' की नियुक्ति की घोषणा भारत सरकार द्वारा की गई। इस आयोग को ''मुदालियर कमीशन'' के नाम से भी जाना जाता है।

स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में माध्यमिक षिक्षा आयोग द्वारा दिए गये कुछ प्रमुख सुझाव –

1. 17–18 वर्ष की बालिकाओं के लिए माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।
2. बालिकाओं के लिए गृहविज्ञान शिक्षण की सुविधाएं कालेजों में उपलब्ध कराई जानी चाहिए।
3. अध्यापिकाओं की कमी को दूर करने के लिए विशिष्ट अल्पकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(iii) राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति :–

1958 में केन्द्रीय सरकार द्वारा श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति का गठन किया गया। इस समिति द्वारा स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में दिए गये कुछ प्रमुख सुझाव निम्नवत् वर्णित है –

1. स्त्री शिक्षा को प्रमुख समस्या के रूप में लिया जाय तथा उनकी शिक्षा–व्यवस्था एवं प्रचार–प्रसार के उत्तरदायित्व का निर्वहन केन्द्र सरकार को अपने स्तर से करना चाहिए।
2. स्त्री शिक्षा के लिए राष्ट्रीय महिला शिक्षा परिषद और प्रान्तीय स्तर पर राज्य महिला शिक्षा परिषद का गठन किया जाना चाहिए।
3. स्त्री शिक्षा की योजनाओं को ठीक प्रकार से संचालित करने के लिए अतिरिक्त बजट की व्यवस्था होनी चाहिए।
4. प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर बालिकाओं की शिक्षा के लिए अधिक सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।
5. ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार के लिए विशेष अभियान चलाए जाने चाहिए।
6. बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा के लिए समान शिक्षा व्यवस्था को लागू किया जाना चाहिए।

(iv) कोठारी कमीशन (1964) एवं स्त्री शिक्षा :–

भारत सरकार ने 14 जुलाई सन् 1964 को प्रोफेसर डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में ''कोठारी आयोग'' का गठन किया गया।

कोठारी आयोग के स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में दिए गये कुछ प्रमुख सुझाव निम्नवत् है –

1. **प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में :–**
   - बालिकाओं को बालकों के साथ प्राथमिक विद्यालयों में अध्ययन हेतु भेजने के लिए जनमत को तैयार किया जाना चाहिए।
   - उच्च प्राथमिक स्तर पर बालिकाओं की शिक्षा के लिए अलग से विद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए।

2. **माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में :–**
   - बालिकाओं के लिए अलग से विद्यालयों की स्थापना की जाए।
   - बालिकाओं के लिए छात्रावास एवं यातायात की सुविधाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिए।
   - बालिकाओं के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था के साथ ही अल्पकालीन एवं व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।
3. **उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में :–** कोठारी आयोग ने स्त्रियों के उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित संस्तुतियां की –
   - स्त्रियों के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए।
   - ऐसे स्थान जहां स्त्रियों की शिक्षा के लिए माँग उठ रही हो वहां पर पूर्व स्नातक कालेजों की स्थापना की जानी चाहिए।
   - स्त्री शिक्षा की समस्याओं का समाधान खोजने के लिए एक या दो विश्वविद्यालयों में अनुसंधान–केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए।
   - गृह विज्ञान एवं सामाजिक कार्य के पाठ्यक्रमों को विकसित करके, बालिकाओं को उसमें शिक्षा लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।
   - बालिकाओं को व्यावसायिक प्रबन्धन एवं प्रशासन की उच्च शिक्षा प्रदान करने के अवसर उपलब्ध कराये जाने चाहिए।
4. **पाठ्यक्रम :–** बालिकाओं के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किए –
   - कक्षा 10 के अंत तक बालक एवं बालिकाअें के लिए समान पाठ्क्रम की व्यवस्था होनी चाहिए।
   - उच्चतर माध्यमिक स्तर पर बालिकाओं को गृह विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए, परन्तु इसे अनिवार्य विषय नहीं बनाना चाहिए।
   - बालिकाओं को संगीत एवं कला इत्यादि की शिक्षा प्रदान करने के लिए कालेजों में उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए।
   - माध्यमिक स्तर पर बालिकाओं को विज्ञान या गणित की शिक्षा के लिए विशेष रूप से प्रोत्साहित करना चाहिए।

(v) राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 :–

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव अभिव्यक्त किए गये हैं, जो निम्नवत वर्णित है–

1. समाज में महिलाओं को समानता का अधिकार प्राप्त हो इसके लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

2. स्त्रियों के सामाजिक स्तर में परिवर्तन के लिए शिक्षा को एक साधन के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए।
3. नवीन पाठ्यक्रमों, पाठ्य–पुस्तकों, शिक्षकों, नीति निर्धारकों और प्रशासकों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।
4. स्त्रियों की निरक्षरता को दूर करने के लिए सर्वोच्च प्राथमिकता के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए।
5. महिलाओं से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों में उचित परिवर्तन किया जाना चाहिए तथा उनके निमित्त पाठ्यक्रम संरचना का निर्माण किया जाना चाहिए।
6. स्त्रियों के लिए विशेष सहायक सेवाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।

प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था संतोषजनक थी। वैदिक काल में कन्याओं का विवाह बहुत शीघ्र कर दिया जाता था। इस काल में स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था अत्यधिक सुदृढ़ थी। स्त्रियां गृहकार्यों के साथ–साथ कृषि, कताई, बुनाई तथा सिलाई इत्यादि कार्यों में दक्ष होती थी। स्त्रियों को गृहकार्य के अतिरिक्त नृत्य, गायन एवं वादन की शिक्षा प्रदान करने की पूरी व्यवस्था थी। वैदिक सभ्यता के अनुसार स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था। प्राचीन ग्रन्थों में जैसे ऋग्वेद में लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, विरूवारा, निवावरी आदि विदुषी स्त्रियों के नामों का उल्लेख बहुत ही सम्मान के साथ वर्णित किया गया है। उस काल की स्त्रियों को यज्ञ तथा वेद का अध्ययन करने का पूरा अधिकार प्राप्त था।

निष्कर्ष :–

भारतवर्ष में स्त्री शिक्षा के विकास की शुरूआत प्राचीन काल से ही थी। वैदिक काल, मुस्लिम काल, बौद्धकाल एवं ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा की प्रगति किसी काल में बेहतर तो किसी काल में न्यून थी। समय के साथ जन चेतना के कारण स्त्री शिक्षा के प्रति लोगों की सोच में परिवर्तन होता गया। स्त्रियों को भी पुरूषों के समान शिक्षा का समान अवसर प्राप्त हो इसके लिए शिक्षाविदों ने समय–समय पर अपनी सहमति व्यक्त की। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने विभिन्न आयोगों का गठन किया और विभिन्न आयोगों ने स्त्रियों की शैक्षिक स्थिति में सुधार के लिए अलग–अलग विचार व्यक्त किए। भारतीय संविधान में स्त्रियों को पुरूषों के समान ही शिक्षा ग्रहण करने के अवसर प्राप्त हो इसकी व्यवस्था सुनिश्चित की गई है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों, अनेक सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों और अन्य स्वैच्छिक संस्थानों ने स्त्री शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिए युद्ध स्तर पर प्रयास शुरू किए। भारत में स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने में राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, गोविन्द रानाडे, मालाबारी, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी, डॉ. अम्बेडकर, सावित्री बाई आदि के नाम उल्लेखनीय है।

सरकारी योजनाओं एवं समय–समय पर शिक्षाविदों द्वारा दिए गये बहुमूल्य सुझावों के कारण प्राचीन काल की स्त्रियों की शैक्षिक स्थिति के अनुपात में वर्तमान समय में स्त्रियों की

शैक्षिक स्थिति में अत्यधिक सुधार हुआ है। आज के वर्तमान परिवेश में महिलाओं के शैक्षिक उन्नयन के लिए सरकार द्वारा अनेकों योजनाएँ चलाई जा रही हैं।

आज स्त्रियाँ समाज एवं राष्ट्र के विकास के लिए अपना बहुमूल्य योगदान दे रही है। राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के लिए स्त्रियों का शिक्षित होना नितान्त आवश्यक है। अतः समाज की स्त्रियों को दबाकर नहीं रखना चाहिए, अपितु उन्हें पढ़ने के बेहतर अवसर उपलब्ध कराने चाहिए।

सुझाव :–

1. केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को स्त्री शिक्षा के लिए पर्याप्त अनुदान की व्यवस्था करनी चाहिए।
2. समाजसेवी संस्थाओं को समाज में व्याप्त स्त्री शिक्षा के प्रति उदासीनता को समाप्त करने के लिए लोगों के अन्दर जन चेतना जागृत करनी चाहिए तथा स्त्री शिक्षा के महत्व से जनमानस को अवगत कराना चाहिए।
3. ऐसे पाठ्यक्रमों का सृजन किया जाय, जिससे स्त्रियों के अन्दर महिला सम्बन्धित गुणों का समुचित विकास हो सके।
4. महिला अध्यापिकाओं की कमी की समस्या के निस्तारण हेतु महिला अध्यापक प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किए जाने चाहिए।
5. बालिकाओं को माध्यमिक स्तर की शिक्षा सर्वसुलभ हो, इसके लिए अलग से विद्यालय स्थापित किए जाने चाहिए।
6. बालिकाओं के विवाह अल्पआयु में न हो इसके लिए कानूनी नियमों का कड़ाई से पालन सुनिश्चित किया जाय, जिससे बालिकाओं की शिक्षा में किसी प्रकार का अवरोध न उत्पन्न हो सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. अल्टेकर, ए.एस. (1974) : एजुकेशन इन एनसिऐंट इण्डिया, मोतीलाल बनारसी दास–बनारस।
2. अग्रवाल, जे.सी. (2002) : लैंडमार्कस इन द हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डियन एजूकेशन, विकास पब्लिसिंग हाउस, प्राइवेट लिमिटेड – नई दिल्ली।
3. बक्सी, एन.एस. (2000) : भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास, प्रेरणा प्रकाशन, रोहिणी दिल्ली।
4. गुप्ता, एस.पी. एवं गुप्ता, अलका (2009) : भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएं, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
5. माथुर, वी.एस.एन. (1968) : स्टडीज इन इंडियन एजूकेशन, आर्या बुक डिपो, नई दिल्ली।
6. मुखर्जी आर.के. (1970) : एनसिऐंट इंडियन एजूकेशन, एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।
7. रावत, प्यारे लाल (1969) : भारतीय शिक्षा का इतिहास, रावत पब्लिकेशन, आगरा।
8. श्रीमती, के.एल. (1961) : प्राब्लमस् ऑफ एजूकेशन इन इंडिया, पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली।
9. सिंह, वी.एन. (1978) : भारतीय सामाजिक चिन्तन, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर।
10. त्यागी, गुरसनदास एवं विजय (2008) : उदीयमान भारत में षिक्षा, अग्रवाल प्रकाषन, नई दिल्ली।
11. मिश्र, उर्मिला प्रकाश (2002) : प्राचीन भारत में नारी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।

माध्यमिक स्तर के सरकारी एवं गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों में अध्यापनरत शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की शिक्षक प्रभावशीलता का उनकी कार्य संतुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन

अवधेश कुमार

असिस्टेन्ट प्रोफेसर
शिक्षक–शिक्षा संकाय
नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्रस्तावना

शिक्षा किसी भी आधुनिक, सभ्य, उन्नत और विकसित कहे जाने वाले समाज का एक अनिवार्य लक्षण है। इसके अभाव में किसी भी राष्ट्र की प्रगति कभी भी पूर्ण और बहुआयामी नहीं हो सकती है। **राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी** ने कहा था कि, ''शिक्षा किसी भी राष्ट्र की प्राणवायु है, इसके अभाव में वह स्वतन्त्र होकर भी परतन्त्र है अर्थात् बिना आत्मा के शरीर।''

राष्ट्रीय विकास में शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। भारत जैसे विकासशील देश में माध्यमिक शिक्षा का महत्व विशेष रूप से है। जिस प्रकार से मानव शरीर का महत्वपूर्ण भाग उसका धड़ होता है उसी प्रकार शैक्षिक संरचना का मध्य भाग उसकी माध्यमिक शिक्षा होती है। प्राथमिक व उच्च शिक्षा की महत्वपूर्ण कड़ी माध्यमिक शिक्षा ही है। यही शिक्षा किशोरावस्था की जनशक्ति का स्रोत है। देश के भावी कर्णधार माध्यमिक शिक्षा के ही ढाँचे में बनते और बिगड़ते हैं। सभी क्षेत्रों में नेतृत्व करने की क्षमता इसी स्तर पर विकसित की जाती है। माध्यमिक स्तर का विद्यार्थी न बालक होता है और न बड़ा और वह तेजी से एक स्थिति दूसरी स्थिति में पहुँच रहा होता है। वह वर्तमान मूल्यों को संदेह की दृष्टि से देखता है। वह एक विचित्र आदर्शवाद से ग्रसित तथा संसार का पुनर्निमाण अपनी इच्छानुसार चाहता है। यह जीवन के आँधी एवं तूफान के दिन है। इस विचित्र एवं नाजुक स्थिति में विद्यार्थियों को उचित निर्देशन एवं मार्गदर्शन केवल और केवल कुशल एवं प्रभावपूर्ण शिक्षक तथा उत्कृष्ट विद्यालयी वातावरण में ही सम्भव है।

शिक्षा बीज और जड़ है, सभ्यता फूल और फल हैं। यदि कृषक विवेकपूर्ण है और अच्छे बीज बोता है तो समुदाय उत्तम दाने प्राप्त करता है और सम्पन्न रहता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है और झाड़–झंकार को बोता है तो ज़हरीले बेर मिलते है और बीमारी और मृत्यु फसल होती है। हमारे कृषक शिक्षक है।

शिक्षक की भूमिका को बताते हुए **स्वामी विवेकानन्द** जी कहते है कि, ''बिना शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन की कोई भी शिक्षा नहीं दी जा सकती है।

वास्तव में योग्य, कुशल एवं प्रभावपूर्ण शिक्षक ही वह धुरी है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण शिक्षण प्रक्रिया घूमती है। शिक्षक के सामान्य एवं कक्षागत क्रियाकलाप शिक्षक व्यवहार की ओर संकेत करते हैं और इन क्रियाकलापों पर शिक्षक की प्रभावशीलता आधारित होती है। इस सफलता के सन्दर्भ में शिक्षक के प्रति अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रतिक्रियाएं प्रदर्शित की जाती हैं। ये प्रतिक्रियाएं शिक्षक की प्रभावशीलता को दर्शाती हैं। शिक्षक की प्रभावशीलता में उसकी शिक्षा तथा सामान्य व तात्कालीन ज्ञान, प्रेरित करने की योग्यता, शिक्षण कौशल, व्यवसाय से सम्बन्धित ज्ञान, पाठ्य सहगामी क्रियाओं का ज्ञान, कक्षा–कक्ष प्रबन्ध की योग्यता, समाज एवं विद्यालय के अन्य सदस्यों के साथ आपसी मेल–मिलाप का स्वभाव, संवेगात्मक रूप से स्थिर, सलाह, निर्देशन की योग्यता, नैतिक रूप से कुशल तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व को समाहित किया जाता है। इन सब क्रियाओं के प्रति विद्यालय के प्राचार्य, साथी समूह, स्वयं शिक्षक एवं विद्यार्थियों की प्रति क्रियाओं में आमुक शिक्षक की प्रभावशीलता के रूप में प्रेरित किया जाता है।

शिक्षा किसी भी आधुनिक, सभ्य, उन्नत और विकसित कहे जाने वाले समाज का एक अनिवार्य लक्षण है। इसके अभाव में किसी भी राष्ट्र की प्रगति कभी भी पूर्ण और बहुआयामी नहीं हो सकती है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था कि, "शिक्षा किसी भी राष्ट्र की प्राणवायु है, इसके अभाव में वह स्वतन्त्र होकर भी परतन्त्र है अर्थात् बिना आत्मा के शरीर।"

वर्तमान समय में शिक्षित बेरोजगारी बढ़ने तथा अन्य विकल्प न मिलने पर विवश होकर व्यक्ति अध्यापन कार्य करने लगे हैं। विवशतावश शिक्षक बन जाने पर भी उनके सामने कुछ ऐसे कारक उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे उनकी शिक्षण प्रभावशीलता प्रभावित होती है। उनकी योग्यता क्षमतानुसार उचित पद, सेवा सुरक्षा, वेतन, कार्य दशाएं प्राप्त साधन–सुविधाएं, वातावरण, संगठन का अभाव, सहयोगियों, प्रधानाचार्य, प्रबन्धकों के साथ उचित मानवीय सम्बन्धों के अभाव आदि के कारण शिक्षक कुंठित रहते है। परिणामस्वरूप वह अपने शिक्षण कार्य के साथ चाहकर भी न्याय नहीं कर पाते है। अतः उचित पर्यावरण एवं सहयोगात्मक व्यवहार न मिलने से शिक्षकों में अनेक मनोवैज्ञानिक समस्यायें उत्पन्न हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में शिक्षक प्रभावपूर्ण शिक्षण करने में सक्षम नहीं हो पाते है। वे अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का पालन उचित प्रकार से नहीं कर सकेंगे साथ ही शिक्षक विद्यार्थियों को उनके परिवार, समाज व देश के प्रति दायित्वों की जानकारी प्रदान करने में सक्षम नहीं हो सकेंगे, जिसका प्रभाव पूरे शिक्षण एवं राष्ट्र पर पड़ता है। इसलिए एक कुशल एवं प्रभावपूर्ण शिक्षक के लिए अपने व्यवसाय के प्रति संतुष्टि का होना अति आवश्यक है।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व

मानव समाज में शिक्षक का स्थान अत्यन्त उच्च है। किसी भी राष्ट्र के उत्थान एवं पतन में शिक्षक का महत्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि शिक्षक उन बच्चों की शिक्षण देता है जो भावी नागरिक होते है। सम्पूर्ण समाज की उन्नति के लिए शिक्षकगण आदिकाल से ही प्रयत्न करते चले आ रहे है। जीवन के लक्ष्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति में उनका नेतृत्व मनुष्य को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाता रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक सर्वोच्च स्थान पर है। पाठशाला के

छोटे–छोटे कार्यों से लेकर शिक्षण अधिगम प्रक्रिया का सम्पूर्ण संचालन शिक्षक के हाथ में रहता है। अर्थात् राष्ट्र का विकास एवं शिक्षा दोनों को शिक्षक के गुण प्रभावित करते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही भारत सरकार को यह विश्वास हो गया कि शिक्षा ही राष्ट्रीय प्रगति एवं मानव कल्याण का आधार हैं राष्ट्र एवं समाज का हित जितना शिक्षा से हो सकता है उतना किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने देश की संरचना के प्रत्येक स्तर पर शिक्षा के विकास के लिये प्रयास प्रारम्भ कर दिया।

वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा के द्वितीय स्तर की शैक्षिक खामियों के प्रति बढ़ती हुई चिन्ता का मुख्य कारण शिक्षकों को शिक्षण प्रभावशीलता ही है। यद्यपि इस परिवर्तनशील जगत में शिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता से सम्बन्धित नित्य नये आयाम उदीयमान होते रहते है। इस क्षेत्र में समयानुसार विभिन्न चरों के सन्दर्भ में शोध कार्य होता रहता है जैसे–शिक्षक की शिक्षण प्रभावशीलता पर शिक्षण अनुभव, प्रधानाचार्यों का प्रशासनिक व्यवहार, अभिवृत्ति, नेतृत्व व्यवहार आदि के सन्दर्भ में अनेक शोध कार्य किये गये है लेकिन कुछ महत्वपूर्ण चरों जैसे–कार्य सन्तुष्टि भी शिक्षण प्रभावशीलता को प्रभावित करती है जो शोध कार्य से वंचित सा दिखता है। अतः इस महत्वपूर्ण विषय पर अन्वेषण की अत्यन्त आवश्यकता थी। अतः इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए शोधकर्ता ने इन दोनो चरों को अपने शोधकार्य में समाहित करते हुए शिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता के सन्दर्भ में अध्ययन करने का निश्चय किया और निम्न समस्या का चयन कियाः–

माध्यमिक स्तर के सरकारी तथा गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों में अध्यापनरत शिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता का उनकी कार्य सन्तुष्टि के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन।

समस्या कथन

''माध्यमिक स्तर के सरकारी तथा गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों में अध्यापनरत शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की शिक्षण प्रभावशीलता का उनकी कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन ''

अध्ययन का उद्देश्यः

1. माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन करना।
2. माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों के शिक्षक– शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन करना।

अध्ययन की परिकल्पना

परिकल्पना शोध की दिशा तय करती है। प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा निम्नलिखित परिकल्पनाओं का निर्माण किया गया है।

1. माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।
2. माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन में शोधविधि के रूप में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन कार्य में प्रतिदर्श चयन विधि के रूप में साधारण यादृच्छिक प्रतिदर्श विधि का प्रयोग करके इलाहाबाद जनपद के सरकारी एवं गैर सरकारी सहायता प्राप्त माध्यमिक स्तर के 10 विद्यालयों (5 सरकारी एवं 5 गैर सरकारी) का चयन किया गया जिसमें से न्यायदर्श के रूप में सरकारी विद्यालयों से 100 शिक्षकों (50 पुरुष शिक्षक तथा 50 महिला शिक्षक) तथा गैर सरकारी विद्यालयों से 100 शिक्षकों (50 पुरुष शिक्षक तथा 50 महिला शिक्षक) कुल 200 शिक्षकों का चयन किया गया है। उपकरण के रूप में शिक्षकों के शिक्षक प्रभावशीलता मापनी को मापने के लिए प्रमोद कुमार और डी.एन. मुथा द्वारा निर्मित– शिक्षक प्रभावशीलता मापनी एवं प्रमोद कुमार और डी.ए. मुथा द्वारा निर्मित–कार्य सन्तुष्टि प्रश्नावली का प्रयोग किया गया है। आँकड़ों के विश्लेषण एवं व्याख्या के लिए पिर्यसन आघूर्ण सहसम्बन्ध गुणांक सांख्यिकी विधि का प्रयोग किया गया है।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या–

माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन करना–

तालिका–1

माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध गुणांक

क्रमांक	समूह	सहसम्बन्ध गुणांक का मान	स्वतंत्र्यांश	सार्थकता स्तर
1.	शिक्षक–शिक्षिकाएँ	–0.230	98	**सार्थक**
2.	शिक्षक	–0.2962	48	**सार्थक**
3.	शिक्षिकाएँ	–0.1273	48	असार्थक

यह प्राक्कल्पित किया गया कि 'माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सार्थक सहसम्बन्ध नही होता है।' तालिका 1 से स्पष्ट है कि माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध गुणांक का मान –0.230, –0.2962 एवं –0.1273 है जो प्रथम एवं द्वितीय 0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु आवश्यक मान पर सार्थक है जबकि तृतीय मान 0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु आवश्यक मान पर असार्थक है, अतः शून्य परिकल्पना स्वीकार्य है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं एवं शिक्षक के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य ऋणात्मक एवं सार्थक सहसम्बन्ध पाया गया जबकि शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सहसम्बन्ध नहीं पाया गया।

माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध का अध्ययन करना–

तालिका–2

माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध गुणांक

क्रमांक	समूह	सहसम्बन्ध गुणांक का मान	स्वतंत्र्यांश	सार्थकता स्तर
1.	शिक्षक–शिक्षिकाएँ	0.1016	98	असार्थक
2.	शिक्षक	–0.0214	48	असार्थक
3.	शिक्षिकाएँ	0.2551	48	सार्थक

यह प्राक्कल्पित किया गया कि 'माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सार्थक सहसम्बन्ध नही होता है।' तालिका 2 से स्पष्ट है कि माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सहसम्बन्ध गुणांक का मान 0.1016, –0.0214 एवं 0.2551 है जो प्रथम एवं द्वितीय 0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु आवश्यक मान पर असार्थक है जबकि तृतीय मान 0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु आवश्यक मान पर सार्थक है, अतः शून्य परिकल्पना स्वीकार्य है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त के शिक्षक–शिक्षिकाओं एवं शिक्षक के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं पाया गया जबकि शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सार्थक सहसम्बन्ध पाया गया।

योग्य, कुशल एवं प्रभावपूर्ण शिक्षक ही वह धुरी है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण शिक्षण प्रक्रिया घूमती है। शिक्षक के सामान्य एवं कक्षागत क्रियाकलाप शिक्षक व्यवहार की ओर संकेत करते हैं और इन क्रियाकलापों पर शिक्षक की प्रभावशीलता आधारित होती है। इस सफलता के सन्दर्भ में शिक्षक के प्रति अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रतिक्रियाएं प्रदर्शित की जाती हैं। ये प्रतिक्रियाएं शिक्षक की प्रभावशीलता को दर्शाती हैं।

निष्कर्ष–

- माध्यमिक स्तर के सरकारी विद्यालयों के शिक्षक–शिक्षिकाओं एवं शिक्षक के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य ऋणात्मक एवं सार्थक सहसम्बन्ध पाया गया जबकि शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सहसम्बन्ध नहीं पाया गया।
- माध्यमिक स्तर के गैर सरकारी सहायता प्राप्त के शिक्षक–शिक्षिकाओं एवं शिक्षक के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं

पाया गया जबकि शिक्षिकाओं के शिक्षण प्रभावशीलता का उनके कार्य सन्तुष्टि के मध्य सार्थक सहसम्बन्ध पाया गया।

सुझाव

1. शिक्षकों को शिक्षण कार्य के दौरान तनावमुक्त होकर अध्यापन कार्य करना चाहिए जिससे उनका शिक्षण कार्य प्रभावशाली हो सके।
2. शिक्षकों को अपने शिक्षण कार्य करते समय बालकों को भी मानसिक तनाव से मुक्त रखें जिससे बालकों का अधिगम और सुदृढ़ हो सके।
3. शिक्षकों को अपने शिक्षण कार्य में भ्रमण, योग, नाटक, तकनीकी आदि का प्रयोग करें जिससे शिक्षण कार्य प्रभावपूर्ण हो सके।
4. शिक्षकों को अपने सहकर्मियों के साथ सहयोगात्मक एवं सहानुभूति सम्बन्ध रखना चाहिए जिससे उचित एवं प्रभावपूर्ण शैक्षिक वातावरण का निर्माण हो सके।
5. शिक्षकों को कार्य सुरक्षा, लचीली सेवा शर्तें तथा कार्य में स्वायत्तता प्रदान की जाय। जिससे वे अपने कार्य के प्रति संतुष्टि को अनुभव कर सके।
6. शिक्षकों का मानसिक तथा आर्थिक शोषण रोकने के लिए सरकार को ठोस कदम उठाने चाहिए जिससे शिक्षक अपने कार्य के प्रति सन्तोष प्राप्त कर सके और अपना शिक्षण प्रभावपूर्ण ढंग से करे।
7. प्रत्येक कक्षा में छात्र व शिक्षक का निश्चित अनुपात होना चाहिए जिससे शिक्षक पर अधिक कार्य का बोझ न पड़े और वह अपने कार्य को सन्तोषजनक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से कर सके।
8. महिला शिक्षकों में अपने कार्य के प्रति सन्तोष का न होना उनके पारिवारिक कारण के साथ–साथ प्रबन्धन तथा प्रशासनिक कारण है। अतः सरकार एवं निजी प्रबन्ध को चाहिए कि महिला शिक्षकों की इन समस्याओं का समाधान करें जिससे वे भी उचित स्थान एवं नेतृत्व का सम्पदान करने में समर्थ हो सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- **एस० अग्रवाल (2012),** अनुदानित एवं गैर अनुदानित उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के संगठनात्मक वातावरण का शिक्षकों की शिक्षक प्रभावशीलता पर प्रभाव का अध्ययन, नई दिल्ली, शिक्षा चिन्तन, त्रैमासिक शोध पत्रिका, अंक–1, पृष्ठ संख्या 14–22.
- **कुमार, पी०एस० (2002).** असेसमेन्ट ऑफ टीचर इफेक्टिवनेस इन रिलेशन टु स्टुडेन्ट लर्निंग आउटकम्स, जर्नल्स ऑफ इण्डियन एजुकेशन (2003); वॉल्यूम-25, पब्लिश्ड बाई एन.सी.ई.आर.टी., पृ. –62.
- **कुमार, एस० आर० (2002).** ए कम्प्रेटिव स्टडी ऑफ टीचर इफेक्टिवनेस ऑफ ऑटोनॉमस ऐण्ड नॉन ऑटोनॉमस कॉलेज ऑफ टीचर्स इन रिलेशन टु देयर मेन्टल हेल्थ, ऑर्गेनाइज़ेशनल क्लाइमेट ऐण्ड स्टुडेन्ट अचीवमेन्ट, इण्डियन एजुकेशन ऐब्सट्रैक्ट्स (2003); वाल्यूम-III, पब्लिश्ड बाई एन.सी.ई. आर.टी., पृ. 85.

- **दास, डी०एन० तथा बेहरा एन०पी० (2004).** उच्चतर माध्यमिक स्तर के शिक्षकों के सांवेगिक बुद्धि के सन्दर्भ में शिक्षक प्रभावशीलता का अध्ययन, जर्नल ऑफ इण्डिया एजुकेशन, एन.सी.ई.आर.टी., वाल्यूम–30(3), पृ0 51–62
- **सक्सेना, जे० और सिंह एस० (2008).** माध्यमिक स्तर के शिक्षकों की शिक्षण प्रभावशीलता एवं व्यवसायिक संतुष्टि का अध्ययन, शिक्षा चिन्तन (2008), शैक्षिक त्रैमासिक शोध पत्रिका, त्रिमूर्ति संस्थान, नई दिल्ली; वर्ष 15, अंक 3, पृ. सं. 81–88.
- **वी० जायसवाल और पी० गुप्ता (2011).** प्राथमिक स्तर के नियमित शिक्षक–शिक्षिकाओं व शिक्षा मित्रों के मानसिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में उनकी प्रभावशीलता का अध्ययन, नई दिल्ली, शिक्षा चिन्तन, त्रैमासिक शोध पत्रिका, अंक–1, पृष्ठ संख्या 31–42.

AIHOLE PRASASTI INSCRIPTION OF POLEKESHI II

Dr. C. B. Kamati

Associate Professor in History
K.L.E.Society's
Lingaraj College,(Autonomous) Belgaum 591 237
Belgaum District Karnataka State
cbkamatix@gmail.com
Mobile 8147130052

This research paper is a thorough epigraphic study of the Aihole Prasasti inscription engraved by Ravikeerti on behalf of Polakeshi II of Chalukyas of Badami. In a sense it is comparable to Allahabad Prasasti of Harisena engraved on behalf of Samudra Gupta. This inscription is a detailed biographical sketch of Polakeshi II. Having been composed in Sanskrit language and Brahmi script, the inscription provides the socio-cultural backdrop of the Chalukyan era. This paper comprises following components:

(i) Description of Space and Time of the Inscription
(ii) An Epigraphic Out-line of the Aihole
(iii) Genealogical Components of the Inscription
(iv) A Critical Appreciation of the Aihole Prasasti
(v) A Chronological Lineages of the Inscription

Glossory

Epigraphia Indica**,** Chalukya Kula, Trivargas,Mahakadamba, Avabhrita Snana, Baimarathi, Indra Vajra, Matte Bhavikridita Aihole is a small village in Hunagund taluka of Bagalakot district (Karnataka State of India) famous for temples of unique order. The hamlet has a small hillock where-upon a shrine dedicated to an ancient religion of the sub-continent is situated. Upon the western wall portion of the temple a well drafted inscription has been engraved by Ravikeerti, the court laureate of the Chalukyan dynasty ruler Pulakeshi II. The content of the inscription is expressed in "…refined poetic language with embedded grammatical and regional elements."(1) The inscription comprising 19 lines is dated as 556 Shaka era and 634-635 Christian era. Its language is Sanskrit and script is Kannada and Telagu of 7th CAD. The inscription has been published by J.F.Fleet in Indian Antiquary,

volume V and VIII. Keelharn has published the same in the VI volume of the Epigraphia Indica.

A Brief Synopsis of the Inscription: Literary Ornamentation and Historicity

This inscription begins with praising the Prime God, '…Hey You, Almighty Free from birth, old age, and death and having hidden the entire world in knowledge bank, I wish you a lasting success'. Likewise, it euolises,…Hey you, 'Chalukya Kula' having given birth to earthly studs, referred to as 'male diamonds' I wish a lasting success. Similarly, it praises,… Satyashraya (Polakeshi), the one who offers charity and felicitation, I wish unillusive furtherance.

After many Chalukyan rulers with Prithvi Vallabha title passed on, …Jayasimha Vallabha be came the King.He conquered the weavering Goddess of Wealth Lakshmi through his valourous battles. His son Ranaraga was a divine ordained, a man with universal character and a bright bodied individual.

His son was Polakeshi (the first).Though he had a spouse Indukanti by name, being Lakshmi Vallabha, he married a bride Vatapipuri (synonym to Badami). It means he made Badami his capital.Like him, the observation of trivargas' (Dharma, Artha and Kama) is essential till today for all rulers on earth. When he undertook Ashwamedha Yaga, due to his Avabhrita snana (clean-up campaign) the land startled with brightness.

Keerti Varma was the son of this Polakeshi. He was a night thunder to Nala, Maurya and Kada mba dynasty rulers.He was totally free from womanisation. But he conquered the wealth of the opponents in wars. He conquered Jayalakshmi through wars. He eliminated a cluster of trees (Mahakadamba) known as Kadambas.

After his death, his brother Mangalesha became King. His cavalry had depraded the land from eastern part to western part. He battled against Katachuris, drove away their elephantry, incorporated their wealth, subsequently captured Revati Dveepa with his large troops.

Like Nahusha, his brother's son Polakeshi was valorous. Having observed His uncle Manga lesha being jealous, he thought of moving away from the state for quite some time. With the application of magic and enthusiasm, he reduced the power of Mangalesha. In his attempt to place his son upon the throne, Mangalesha lost his kingdom and life as well.

After Mangalesha lost the sovereignty the world being cloudier was brightened-up due to adventurous and prolific rise of Polakeshi. Utilising this

opportunity to their favour Appayika and Govinda, with the assistance of elephant force, marched to conquer the land to the north of river Baimarathi (synonym to Bheema) Appayika among them due to the troops of Appayika had had the taste of trepidation. The other man Govinda began serving Polakeshi instantaneou sly. He received fruits worth of his service.

When he invaded Vanavasi (Banavasi) rivaling Surapura, a locational fort (sthaladurga) appearing as if Bucks playing upon the waves of river Varada, surrounded with an ocean of troops it appeared at once like a Jaladurga (WaterFort).

Ganga and Alupa rulers, having already had the status of being gorgeously wealthy, being snubbed by his manliness, started serving him.

In Konkana, his ferocious troops, having slashed the Mauryans, their wealthiest township Puri in the west coast, took over the town like Purari (Ishwar or Indra) Latas, Malawas, Gurjaras and the feudatories who were peanalised due to his gallantry, themselves became the Acharyas, the righteous models of an ideal conduct.

Though he had a spouse Indukanti by name, being Lakshmi Vallabha, he married a bride Vatapipuri (synonym to Badami). It means he made Badami his capital.Like him, the observation of trivargas' (Dharma, Artha and Kama) is essential till today for all rulers on earth. When he undertook Ashwamedha Yaga, due to his Avabhrita snana (clean-up campaign) the land startled with brightness.

A war was fought against HarshaVardhana who had several feudatories. In that war Harsha Vardhana having observed his elephantry being toppled lost his state of happiness.

Near Vindya Mountains, on the banks of River Reva (synonym to Narmada), when Polakeshi was camping with his large troops, that river wombing out of the river mountains was lit-up with instinctive charm.

Having assumed status of being master, magic and enthusiasm the three powers, born in a cultured family, and the other brighter qualities he became equivalent to Indra gained the over lordship of 99,000 villages comprising Mahakshatrapa.

Kosalite and Kalingites had had the fear of his troops.He conquered extremely difficult Pishta pura fort. The lake water of Kaunala being chartered became reddish due to blood.

Polakeshi forced Pallavaraja of Kanchi to hide in his fort. He with his large elephant force was enthusiastic about crossing over river Cauvery to

conquer the Cholas. There he appeared like the Sun to melt away the Pallavas, provided greater fortune to the Chola, Kerala and Pandya rulers.

Thus Satyashraya with his over lordship, magic and enthusiasm conquered all directions, fare-welled all greatest among the great rulers, offered obeisance to divine Brahmanas ruled the land from ocean to ocean including Vatapinagar like a city itself.

After three thousand seven hundred thirty five years, 556 years passed away after the Saka era (equivalent to 634-35) this greater monumental stone edifice (Meguti) was built by the intelligent, Ravikirti being gracious enough to have the patronage of Satyashraya(Poakeshi).

The architect of this inscription, a devotee of the lord of the three worlds, Ravikeerti himself was the builder of this monument with his own money. Let Success shower upon Ravikeerti who is equivalent in this poetic construction to Kalidas and Bharavi, This inscription being typical in applying contextually the ornamentation techniques of"…a prosaic and poetic lang uage comprising upama, rupaka, utprekse, paryayokfti and other relevant metaphors."**(2)**

Following transliterated Sentences from the inscription reveal the early history of the Chalukyas of Badami. These are crucial in the reconstruction of the History of the Chalukyas of Badami

- Victorious is the holy **Lord** -he who is exempt from old age, death and birth--in the sea of whose knowledge the whole world is comprised like an island.
- And next, long victorious is the immeasurable, wide ocean of the **Chalukya** family, which is the birth-place of jewels of men that are ornaments of the diadem of theearth.
- And victorious for very long is **Satyashraya**, who in bestowing gifts andhonours on the brave and on the learned, both together on either, observes not the rule ofcorrespondency of number.
- When many members of that race, bent on conquest, applied to whom thetitle of Favourite of the Earth had at last become appropriate, had passed away,
- There was, of the **Chalukya** lineage, the king named**Jayasimha-vallabha**,who in battle--where horses, footsoldiers and elephants, bewildered, fell down under thestrokes of many hundreds of weapons, and where thousands of frightful headless trunksand of flashes of rays of swords were leaping to and fro--by his bravery made Fortune hisown, even though she is suspected of fickleness.

- His son was be who was named**Ranaraga**, of divine dignity, the one masterof the world, whose superhuman nature, (even) when he was asleep, people knew fromthe pre-eminence of his form.
- His son was**Polekeshin**, who, though endowed with the moon's Beauty, andthough the favorite of Fortune, became the bridegroom of **Vatapipuri**
- Whose path in the pursuit of the three objects of life the kings on earth evennow are unable to follow; and bathed by whom with the water of the purificatory rite,when he performed the horse-sacrifice, the earth beamed with brightness.
- His son was**Kirtivarman**, the night of doom to the**Nalas**,**Mauryas** and**Kadambas**, whose mind, although his thoughts kept aloof from others' wives, wasattracted by the Fortune of his adversary.
  Who, having secured the fortune of victory by his valour in war, being ascent-elephant of a king, of great strength, at once completely broke down the multitudeof the broad Kadamba trees the **Kadambas**

Critical Notes about the Inscription

Among Inscriptional sources of Indian history, Aihole Prasasti of Polakeshi is an important one. Beng composed in matured poetic Sanskrit by Ravikeerti, throws a flood of light on early political history of the Chalukyas. Having built on Meguti hillock by Ravikeerti has provided a befitting context for inscribing the inscription.In this backdrop, this inscription records the dynastic history of the Chalukyas, prominently the achievements of Polakeshi II in greater detail. Generally, historians refer to this ruler as Pulakeshi, Pulikeshi. However this inscription points out his appropriate name as ‘Polekeshi’.

It is remarkable that though the inscription being Poetic in form, the achievements of the Chalukya rulers have been objectively recorded. It has been documented that in Chalukya dynasty, after Jayasimha and his son Ranaraga completed their tenures’, the son of Ranaraga Polakeshi made Vatapipuri his capital and performed Ashwamedha yaga.Polakeshi was the real founder of the Chalukya dynasty. However, he generally, as historians have recorded, not to have conflicted against his contemporary dynastic families. Polakeshi, the son of Keertivarma stated openly that he was a nightly terror to Nala, Maurya and Kadamba rulers. Keertivarma also was credited for bringing down the Kadamba dynasty from power. This substantiates the fact that the extension of the Chalukyan kingdom with Keertivarma himself. After Keertivarma, Manga lesha came to power. He defeated Katachuris,

conquered Revati Dvipa (possibly Goa), thus ext ended the Chalukyan kingdom from east coast to the west coast. The fact that Mangalesha refused to hand over power to Polakeshi after he came of age , tried to make his son the ruler of the kingdom and failed and died in the endeavor has also been recorded well in the inscri ption. This is an indication to the objective outlook of the author of the inscription Ravikeerti. The subsequent exploitation of the state of lawlessness and anarchy by Appayika and Govinda was prevented by Polakeshi on the northern bank of the river Bhimarathi and Polakeshi being punished; Banavasi the capital of the Kadambas being seized and occupied; Gangas and Alupas being inclined to serve Polakeshi; Puri (Gharapuri, Elephanta)-Konkana Maurya's capital being conquered through boats; Lata, Malawa and Gurjaras being penalized to feudatorial submiss ion, defeating Harsha's elephantry making him hapless; becoming the overlord of Mahakshatrayas' (three Maharashtras'), Kosala and Kalinga being terrorized; Pishta pura Durga being captured;The place of Kunala Sarovara–VengiNadu (Kolleru of Andhra, Goda vari Region); Pallava king made to take shelter in Kanchipuram; the prominence of the Pallava rulers being degraded to promote the fortune of the Cholas, Keralites and Pandyas; finally retreat to Vatapi Puri ,-these all achievements are being observed by Ravikeerti as chronological but different phases of the same campaign. But, a glaring mistake being names of the rulers of different dynasties defeated by Polakeshi has not been mentioned. However, as Hyderabad Copper Plate suggests until 613AD until Harsha was defeated it appears his victory being incomplete. It is evident from the inscription that by about 616-17 AD, in Vengi region, Pulakeshi's brother Vishnuvardhana was serving as Yuvaraja (would be ruler).This indicates that the campaign in Godavari region was already complete. Probably , the second phase of the Pulakeshi's campaign probably had begun by about 630AD. At this stage, Polakeshi had once again had his control upon other regions of Andhra Pradesh and then defeated other rulers like Pallavas of Kanchi and a few more dynasties. Most of the scholars believe that Polakeshi fought two wars with the Pallavas, in the first instance he defeated Pallava Mahendra Varma, in the second instance , he himself was defeated by Narasimha Varma I. According to K.V.Ramesh, Pallava being referred to… in the inscription "…was Narasimha Varma I rather than Mahendra Varma."[(5)] This invasion occurred during 632-33 AD. Overall, it is evident from the Aihole Prasasti that by 634 AD , Polakeshi having completed his campaigns, was ruling upon a large kingdom with peace and order.

From other reasons too the inscription is significant. The year of the Maha Bharat war and the Shaka year are simultaneously referred it...in the inscription is evident that as per the convention MahaBharat war was fought during BC 3101.Thus the first year of the Kaliyuga being utilized for chronological estimate is often depicted in the inscriptions of the Kadambas of Goa.

The creator of this poetic creation Ravikirti analogises himself with Kalidasa and Bharavi. As we exactly do not know the exact date of Kalidas and Bharavi, there are different opinions among scholars about the date. From the present inscription, the date of the inscription is said to have been circa 634 AD. It is evident from the pillar inscription of Chalukya Mangalesha during the period of Chalukya Mangalesha, Kalidasa was already famous in Karnataka.In the inscription, "…a shloka of Raghuvamsa has been directly taken-up. The poetic expertise of Ravikeerti has been squarely accepted by scholars." **(6)**

The influence of Kalidasa's Raghuvamsa and Bharavi's Keeratarjuniya is depicted in the utility of words by Ravikeerti.

He in his poetic edifice has situationally applied many more alankaras like "…upama, rupaka, utprekse, parya yokfti and shabdalankaras like yamaka, anuprasa, and chandassus like aryas, aryasgiti, oupch anda ssika,indravajra,matteBhavikridita,mandakranta,malini." Deciding about the chronology of the structural builds of the Chalukyas is problematic.

In this backdrop, this inscription is useful in arriving at a chronological decision about Meguti temple complex. The date is said to have been 634 AD. In this respect, the Aihole inscription is is quite useful in arriving at the growth of the Chalukyan architecture.

REFERENCES

1. Shankar D.N.: Grammatical Relations – Evidence Against Their Necessity and Universality, Routledge, Manchestor, 1991, p.42
2. Barough T. and Emeno M.B.: The Dravidian Etymological Dictionary, Te Clarendon Press, Oxford, 1961, Introduction
3. Sridhar N.S.: Dative Subjects, Rule Government and Relational Grammar-Studies in Linguistic Sciences, Oxford University Press, Oxford, p.130
4. Caldwell R.: A Comparative Grammar of the Dravidian OR South Indian Family of Languages, Kegan Paul, Trench, Trubuner, and Company Ltd.,Hanover,1913,p.42
5. Ramesh K.V. : A Survey of Karnataka Inscriptions, Prasaranga,Bangalore University,Bangalore, 1971,p.48
6. Sweezer J.S.: Sanskrit Syntax, Motilal Banarasidas, Delhi,1973,p.68

पुस्तक समीक्षा

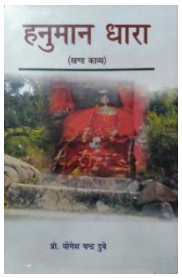

पुस्तक– हनुमान धारा (खण्ड काव्य)
लेखक– प्रो0 योगेश चन्द्र दुबे
सम्प्रति कुलपति जगद्गुरू रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय चित्रकूट
प्रकाशक– निर्मल पब्लिकेशन्स
शाहदरा, दिल्ली–110032
मूल्य– 50 रूपये
पृष्ठ– 48
मो0– 09452032221
ई–मेल–Profyogeshdubey@gmail.com

शान्त, सनातन, अप्रमेय, निष्पाप, मोक्षरूप परमशान्ति देने वाले, ब्रम्हा, शम्भू और शेष जी से निरन्तर सेवित, वेदान्त के द्वारा जानने योग्य, सर्वव्यापक, देवताओं में सबसे श्रेष्ठ, माया से मनुष्य रूप में दिखने वाले समस्त पापों को हरने वाले, करूणा की खान, रघुकुल में श्रेष्ठ तथा राजाओं के शिरोमणि भगवान् सीताराम के अनन्य भक्त संकटमोचन, सम्पूर्ण गुणों के निधान, पवनसुत श्री हनुमान जी को सर्वप्रथम प्रणाम करता हूँ।

ऐसे सलोने मोहक मनभावक व्यक्तित्त्व पर यदि किसी लेखक की लेखनी चलती है तो वह वास्तव में सराहनीय एंव वन्दनीय होती है। प्रो0 योगेशचन्द दुबे द्वारा रचित जन सामान्य की भाषा हिन्दी के अवधी में जो चित्रण प्रस्तुत है वह कहीं न कहीं कवि की आध्यात्मिक विचारधारा का परिणाम है। वैसे आज के आधुनिक परिवेश में एवं इस चकाचौध में कवियों की वाणियाँ अनेक रूपों में अपने वास्तविक संस्कृति को भूलकर आधुनिक वेशभूषा को धारण करती जा रही है। कवि का चित्रकूट प्रेम कवि के ग्रन्थ से ही परिलक्षित होता जाता है वैसे तो चित्रकूट के सम्पूर्ण स्थलों, कामदगिरि, जानकी कुण्ड, रामघाट, स्फटिक शिला, भरत कूप, सतीअनुसुइया, गुप्त गोदावरी, मंदाकिनी एंव हनुमान धारा जैसे सारे स्थल रमणीय एंव परम दर्शनीय है। परन्तु कवि ने जीवमात्र के कल्याण इस निर्मल निष्कालुष्य हनुमान धारा का दर्शन कर मानव के जन्म–मरण के बन्धन को शिथिल करने का प्रयास किया। जो भगवान् सीताराम की कृपा से ही हो पाता है।

अस संजोग ईश जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरूवरई।।

प्रभु की कृपा ही है कि आज मुझे इस हनुमान् धारा जैसे खण्डकाव्य पर कुछ लिखने का अवसर प्राप्त हुआ।

वस्तुतः हनुमान धारा के इस ग्रन्थ में वर्णित कविताओं का यदि सूक्ष्म अन्वेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कवि की ज्ञान धारा हृदय से स्रावित होती हुई कुछ बूदें हैं जो एकत्रित होकर जनसामान्य हेतु प्रवाहमान हो गयी है। कवि की इन पंक्तियों से यह स्पस्ट हो जाता है।

मोरे मन कविता क भाव तूँ उठइलू माई,
रचि हनुमान धारा तोहँई बहइलू हो।
भाव नाहीं मोरे बाटइ, भाषा कमजोरै बाटइ,
छन्द का विधान अउ सधान नाहीं माई रे
धार हनुमान का महान जवनइ फूटि चली
मिली हनुमान तुँही पार दे लगााई रे ।

कवि नें अपनी रचना ''बल है अपार जैसे बल के निधान हो, देह है विशाल जैसे स्वर्ण के अचान हो'' से यह लगता है कि कवि कहीं न कहीं रामचरितमानस के सुन्दर काण्ड के 'जेहि, गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता। को याद दिला देती है। भाव, भाषा, छन्द का समुचित मेल कवि की कविताओं में दिखाई पड़ता है।

लाल देह लाली लसैं की पंक्तियों से कवि बड़ी चतुराई से हनुमान जी के सारे अगों, प्रत्यंगों, वस्त्रों की कान्तियों को बड़े अनुग्रह के साथ प्रस्तुत कर अन्त में अपने आग्रह को प्रस्तुत कर देता है। षोडश हनुमन्ता के द्वारा कवि भगवान् हनुमान् के षोडश नामों को लेकर मानों षोडश जन्मों या जन्मांतरो तक भगवान् के सानिध्य को प्राप्त करना चाहता है।

हनुमान जी के स्वरूप को कवि बड़े ही सरल एंव सरस भाव में अभिव्यक्त करता है।

मीठ–मीठ फर खाये, बाकी तोरि के बहाए,
डारि–पात, फल–फूल जवनइ रहा वन में ।
हाथे–लाते, तोरे सब, गदा से मरोरे पेड़,
पोंछी में लपेटि के उठाइ लिहे छन में ।
वाटिका में नाटिका जो हनुमान कइ डारेन
छन में बदलि ग अशोक शोक वन में।

कवि का जन्म जनपद जौनपुर में होने के नाते कवि अवधी और भोजपुरी दोनों बोलियों का धनी हैं। ''लइना बाबा क दरसनवां'' को कवि नें भोजपुरी में प्रस्तुत कर मन रूपी तरंग में जो धारा प्रवाहित की वह अभी भी हिलोरें ले रही हैं।

होइ गयल हमरा से कवन कसूर हो
कइले बान बाबा काहें अँखिया से दूर हो
काहे ना बोलावतानी अपने शरनवाँ
मोर मनवाँ लागल बाय.....

माता सीता हनुमान जी को आशिर्वाद देती हैं कि–

अजर अमर गुननिधि सुत होहू
करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।

उसी प्रकार कवि पर भी भगवान सीताराम एंव पवनसुतनन्दन हनुमान जी का आशिर्वाद सदैव भक्ति धारा के रूप में प्रवाहित होता है। कवि की यह भक्ति जलधारा सुधी जनों के साथ–साथ सभी जनों को पवित्र करती हुई समस्त पापों के बन्धनों से मुक्त करें। क्योंकि ज्ञान का मार्ग अत्यन्त कठिन है।

ज्ञान को पंथ कृपान के धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ।।

उपनिषद् में भी कहा गया है कि ज्ञान की मार्ग क्षुरे की धार सदृश है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया। दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।।

अन्ततः कवि ने अपनी कविता के माध्यम से मानव कल्याण की भावना को प्रस्फुटित कर ज्ञान एंव भक्ति समन्वित धारा को प्रवाहित किया ।

तनवाँ पे तोहरे निसिदिनि शीतल जलधार बहे
मनवा से तोहरे निसि दिनि नेह रस प्यार बहे
'हनुमान धारा' होये ई जनात बाय
उहीं सारे भक्तन कइ, कामना पुरात बाय।

डॉ0 विनय कुमार त्रिपाठी
सम्पादक
शोध मार्तण्ड

प्राचार्य
श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय
सुजानगंज जौनपुर